UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182268
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP 557 13-7-71 3000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 K42K Accession No. G. H. H277

Author केसरी

Title कदम्ब

This book should be returned on or before the date last marked below.

कदम्ब

'केसरी'

—:❀:—

पुस्तक-भण्डार
पटना और लहेरियासराय

प्रकाशक
पुस्तक-भंडार
पटना और लहेरियासराय

मूल्य ४।)

मुद्रक
श्री महादेव सहाय सिंह अष्ठाना
श्री हिमालय प्रेस, पटना

समर्पण

कथनीय कहाँ कह पाता है
माँ! मेरा कवि तेरे समीप–
तुतला-तुतला रह जाता है
कथनीय कहाँ कह पाता है!

तो,

माँ! अपने इकलौते बेटे की इस तुतलाहट को आशीर्वाद के अमृत से सींच कर अमर कर दो।

तुमसे अब तक लेता ही रहा हूँ; और आज इस 'समर्पण' की वेला में भी यांचा ही कर रहा हूँ। तुम्हारे योग्य मेरे पास है ही क्या जो तुम्हें समर्पण करूँ!

तुम्हारा ही—
केसरी

विषय-सूची

संक्षेप में --

१ कदंब ... १
२ कल तुम जाओगे ! ... ५
३ राम-राज्य ... ८
४ आश्वासन ... १२
५ एक पत्र ... १४
६ जेठ की गंगा से ... १८
७ सूखा गुलाब ... २०
८ आँसू का चिराग ... २२
९ याद में ... २५
१० गीत ... २७
११ बेली का फूल ... २८
१२ मेघ ... ३०
१३ छवि ... ३२
१४ ओस-कण ... ३४
१५ पथ के पत्थर से ... ३६
१६ भावी के प्रति ... ४०
१७ शांति पर्व में ... ४३
१८ स्वस्ति-प्रशस्ति ... ४६
१९ निखार पर चढ़ी धरा निखार पर ... ४८
२० फाल्गुनी ... ५०
२१ गाँव से लौटा हुआ ... ५२
२२ पावस और कवि ... ५५
२३ उनकी याद में ... ५८
२४ दशहरे की छुट्टियाँ ... ६०
२५ मुक्ति-मार्गी ... ६६
२६ पूस-माघ ... ६९
२७ नोआखाली की विजय-यात्रा ... ७३

२८ कवि-प्रिया ... ७५
२९ नवीन रश्मियाँ ... ७७
३० शरद्-कौमुदी (कातिक की चाँदनी) ७९
३१ गीत ... ८३
३२ एक क्षण कुछ कम नहीं ८५
३३ हे मेरे प्रिय देश ... ८७
३४ आदमी ... ८९
३५ कातिक की साँझ ... ९१
३६ हाय ! यह क्या हो गया भगवान ! ... ९५
३७ उद्योग पर्व ... ९७
३८ कीर्ति ... ९९
३९ मिट्टी की महिमा ... १०२
४० देश-माता ... १०५
४१ पूस की साँझ ... १०७
४२ कल्प-वृक्ष ... १०९
४३ सरदार श्री की याद में ... ११२
४४ नए पत्ते २१४
४५ हिंद न्यौछावर जवाहरलाल पर ... ११६
४६ नवीन की कामना ... ११९
४७ नवीन का स्वागत ... १२१
४८ नवयुग ... १२३
४९ निशीथ-चिंतन ... १२५
५० गीतोपहार ... १२८
५१ धन्यवाद ... १३०
५२ प्रतीक्षा ... १३२
५३ अक्तूबर की दूसरी तारीख ... १३५
५४ दीवाली ... १३७
५५ लखिया की मनौती ... १३९
५६ दृष्टिकोण ... १४४
५७ स्वप्न-द्रष्टा ... १४६
५८ गीत ... १४८

५६ पद ... १५०
६० जिन्दगी की ओर से ... १५१
६१ गीत से बढ़कर न बुलबुल ! और
कोई काज ... १५३
६२ गीत ... १५५
६३ गीत का मौसम ... १५६

संक्षेप में—

केसरी जीवन-ब्रज के कदम्ब और करील, सुंदर और यथार्थ, दोनों के कवि हैं। कदंब के प्रति उनका पक्षपात स्पष्ट है। यही उनकी कविताओं के इस नवीन संग्रह का अभिधान है।

मराली के बाद केसरी का यह दूसरा संग्रह है। इस उदासीनता के लिए जो भी उत्तरदायी होवे या उनके प्रकाशक, वह कविता-प्रेमियों की आलोचना का पात्र बनेगा। केसरी की कविताओं को पत्रिकाओं में छपकर लुप्त नहीं हो जाना चाहिए। समसामयिक हिंदी कविता के अध्येता के लिए उनके सुलभ संग्रह आवश्यक हैं। वे हिंदी कविता के बनते चलने वाले इतिहास के परिच्छेद-विशेष के लिए अनिवार्य आधार हैं।

केसरी ने बहुत कुछ ऐसा लिखा है, जो दूसरे उनसे भी अधिक प्रभावोत्पादक रीति से लिखा करते हैं; लेकिन उन्होंने थोड़ा ऐसा भी लिखा है जो वे ही लिख सके हैं और लिखते जा रहे हैं, और जिसके कारण, इयत्तया अधिक न होने पर भी उनकी कविताओं की पूर्णतः उपेक्षा कभी नहीं हुई है। हिंदी के रसज्ञ आलोचक शांतिप्रिय द्विवेदी ने इसी कारण, मराली के युग की, उनकी कविताओं की विशेष रूप से श्लाघा की थी, और आधुनिक हिंदी-कविता का कोई संग्रह उनकी कविताओं के बिना पूरा नहीं होता। किंतु यह सत्य है कि हिंदी के आलोचकों को अभी केसरी के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करना बाकी है।

वह थोड़ा सा क्या है जिसके कारण केसरी विशेष श्रेय के अधिकारी हैं? अवश्य वह उनकी उन कविताओं में नहीं मिलेगा जिनमें राष्ट्र-प्रेम, वीर-पूजा, जन-महिमा या मानवतावाद की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसी अनेक कविताएँ कदंब में संगृहीत हैं। हिंदी कविता के औसत के धरातल के ऊपर ये उठती नहीं दीख पड़तीं। किंतु इन्हीं के बीच-बीच वे कविताएँ भी बिखरी हुई हैं, जो नक्कार-खाने में तूती की आवाज बन कर नहीं रह जातीं। उन्हीं में केसरी का वैशिष्ट्य निहित है।

संग्रह की पहली कविता कदंब तथा कल तुम जाओगे, सूखा गुलाब, बेली का फूल, मेघ, छवि, ओस-कण, गाँव से लौटा हुआ, पावस और कवि, दशहरे की छुट्टियाँ, पूस-माघ, शरद-कौमुदी, कातिक की साँझ, पूस की साँझ, निशीथ-चिंतन, ललिया की मनौती, गीत का मौसम आदि इस विशिष्ट प्रकार की कविताएँ हैं। इनकी विशेषता यही नहीं कि ये प्रकृति-कविताएँ हैं, बल्कि यह भी है कि तदनुरूप इनकी शिल्प-विधि और भाषा-शैली भी है।

प्रकृति-कविता के संबंध में मेरी तात्त्विक स्थापना यह है कि उसकी शिल्प-विधि और भाषा-शैली का रूप भी प्रकृत होना आवश्यक है। तब समस्या होगी—क्या बर्न्स की प्रकृति-कविता को ही हम प्रकृति-कविता कह सकते हैं, शेली-कीट्स आदि की कविता को नहीं? क्या भिखारी ठाकुर की ही, पंत की कविताएँ नहीं, प्रकृति-कविताएँ मानी जा सकती हैं? समस्या है तो जरूर।

जो मानव-जीवनेतर निखालिस यथार्थता, अर्थात् प्रकृति की यथार्थता, एक परिनिर्मित साहित्यिक भाषा के साँचे में ढाली जाती है, वह आदर्शीकृत हो कर ही हमें उपलब्ध होती है, स्वयं वह पकड़ में नहीं आती। इसे एक और दूसरी तरह से हम समझें। अत्तार अगर हमें गुलाब की रूह दे पाता है तो वह बड़ा काम करता है, किंतु वह हमें गुलाब की पंखुड़ियों और रंग से वंचित भी तो कर देता है। वह सुगन्ध पकड़ने के लिए फूल का सत्यानाश कर देता है, यह तो सच है ही। शेली या कीट्स या पंत आदि की प्रकृति-कविता के साथ ऐसा ही होता है। हमें रूह मिलती है, लेकिन फूल की कीमत पर।

मानवीय एवं मानवेतर प्रकृति की घोर यथार्थता को उसकी संपूर्णता में आबद्ध कर लेने में उपन्यास से कविता मात खाते-खाते बची है। कुछ दिनों पहले यह मुनादी कर दी गई थी और लोगों ने मान भी लिया था कि कविता की मृत्यु हो गई है, या नहीं हुई है तो अब हुआ चाहती है, क्योंकि यथार्थ के चित्रण-अंकन में उपन्यास सक्षम सिद्ध हुआ है और कविता विफल है। कविता ने इन भविष्यवक्ताओं को झुठलाते हुए जीर्ण वस्त्र का परित्याग कर नवीन धारण कर लिया है और इस बाह्य परिवर्तन के अनुरूप आभ्यंतर परिवर्तन भी कर लिया है। इसीका परिणाम है कि घोर यथार्थता के इस युग में कविता नए सिरे से पूर्ववत् सार्थक साहित्यिक रूप प्रमाणित हुई है।

किंतु यह भी ठीक है कि यदि कविता इस द्विविध परिवर्तन में असमर्थ होती तो उसे साहित्य के नए रूप, उपन्यास, के लिए अपना आसन खाली कर देना पड़ता। शेली और कीट्स या पंत का प्रकृति का भावकरण—या फिर बर्न्स या भिखारी ठाकुर की वह अभिव्यक्ति जो साहित्य में समादृत होने पर भी

साहित्य के स्तर पर स्वीकृत नहीं हो सकती : प्रकृति-कविता की यही असमाधेय-सी द्विधा है।

इसका हिंदी में समाधान केसरी की कविताओं में मिलता है। केसरी हिंदी के ऐसे अपवाद स्वरूप कवि हैं जिन्होंने प्रकृति-कविता की रचना में माध्यम की प्रकृतिता की अवहेलना नहीं की है। जिस प्रकार यथार्थता और साहित्यिक प्रतिमिति, दोनों के प्रति वफादारी बरतने वाले गल्पकारों ने तथाकथित आंचलिक उपन्यास लिखे हैं, उसी प्रकार, हम कह सकते हैं, केसरी ने हिंदी में आंचलिक कविताएँ लिखी हैं, जिनमें प्रकृति-चेतना सम्पूर्णता के साथ और याथातथ्यतः अभिव्यक्ति पा सकी है।

केसरी की 'लखिया' पंत की 'ग्राम्या' नहीं है, वह हमारे यहाँ की एक वास्तविक ग्रामीणा है। 'ग्राम्या' में ग्राम्यता और भोंड़ापन इसलिए है कि वह केवल वस्त्र और अंग-संचालन में ही ग्राम की है, लखिया पूर्णतः ग्रामीण ललना है। एक बात और है : पंत अपनी 'ग्राम्या' को उस रूप में देखते हैं जिसमें उसे वे देखना चाहते हैं, केसरी अपनी ग्रामीणा को उस रूप में देखते हैं जिस रूप में वह रहती है। बहुत कुछ यही अंतर नंद और सूर की गोपियों में था। भदेसपन और साहित्यिक उदात्तता के दुर्मिल संधि-स्थल पर सूर की तरह ही केसरी भी पैर टिकाए रखना जानते हैं।

इसे ही संभव बनाने के लिए केसरी की कविता की शिल्प-विधि में परिनिष्ठित भाषा के काव्य के अनुरूप आत्यंतिक परिष्कृति का सचेष्ट वर्जन है। केसरी की कविताओं में संस्कृत या बँगला या उर्दू की आयातित लय के बदले लोक-गीतों की लय है, खराद पर चढ़े श्रुति-पेशल शब्दों के बदले अनेक अप्रचलित पर नुकीले पद मिलते हैं, और भाव को अवरुद्ध करने वाले शब्द-चित्रों के बदले भावों और चित्रों की एकता में समंजसता है।

—नलिन विलोचन शर्मा

दो शब्द

एक दशक से भी ऊपर हुआ जब मेरा पहला कविता-संग्रह—'मराली' प्रकाशित हुआ था। इसलिये आज 'कदम्ब' आपके हाथों में रखते हुए मुझे कुछ झिझक-सी हो रही है। यों मैं कभी भी बहुत ज्यादा नहीं लिख पाया, किन्तु इस लंबे अरसे में जो भी थोड़ा लिखा उसे समय पर पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं कर सका।

'कदंब' के विषय में मुझे कुछ कहना चाहिए—ऐसा मुझे नहीं लगता। कारण, 'कदंब' की कविताओं की गति-विधि, टेकनीक किंवा भाव-भूमि अधिकांशतः वही है जो 'मराली' की कविताओं की थी। अर्वाचीन हिन्दी-कविता 'वादों' के जिन कटघरों में विभाजित की गई है उनसे जो बची-खुची जमीन है उसीमें इन कविताओं को रखना चाहिए। मेरी धारणा है, यह जमीन जितनी ही चौड़ी होती जायगी उतना ही उज्ज्वल एवं प्रशस्त होगा हमारी कविता का भविष्य-पथ। वस्तुतः कविता का कोई राजपथ नहीं हुआ करता; यहाँ केवल पग-डंडियाँ होती हैं। मेरी भी अपनी एक पग-डंडी है जो उन पावन चरण-चिह्नों के आस-पास से हो होकर गुजरती है जो अभी भी हिन्दी-कविता की रहनुमाई कर रहे हैं। मैं कोरे जीवन को कला नहीं मानता, और उस कला को शक्तिहीन शव के समान समझता हूँ जो जीवन से विच्छिन्न-भिन्न हो केवल कलाबाजी भर रह गई है। मैं किसी भी मूल्य पर हिन्दी-कविता को अपनी परंपरागत संस्कृति से दूर करने को तैयार नहीं हूँ।

इसके मानी ये नहीं कि मैं उन सभी उद्देश्यों एवं प्रयासों से बिलकुल अपरिचित या अप्रभावित हूँ जिनसे हिन्दी-कविता का क्षितिज विस्तृत हुआ है या हो रहा है। मैं उन प्रयोगवादियों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर काफी दूर तक चलने को तैयार हूँ। साथ तभी छोड़ता हूँ जब वे कला को छोड़कर कलाबाजी पर उतर आते हैं या कोरे असंयमित जीवन को ही कला मान बैठते हैं।

'मराली' से लेकर 'कदंब' तक की जो एक लंबी अवधि है उसमें अपने जातीय जीवन में बहुमुखी परिवर्त्तन हुए हैं। कवि के अन्तर्जगत में भी परिवर्त्तन अवश्यंभावी ही है। तदनुरूप 'कदंब' की रचनाओं में नवीन दिशाओं की खोज है, नवीन सत्यों की अन्वेषणैषणा है। साथ ही साथ रचना-विधान एवं पद-योजना में सरलता एवं प्रांजलता के प्रति भी विशेष अनुराग देखने को मिलेगा।

मेरा विश्वास है, अभी भी ऐसे पाठक हैं जो विशुद्ध आनंद—अलौकिक आनंद के लिये कविता पढ़ते हैं।

कदंब की कविताएँ यदि ऐसे पाठकों की सम्यक समाराधना कर सकीं तो मेरा प्रयास सचमुच सफल हो जाएगा। इन कविताओं के विषय में बंधुवर नलिन विलोचन शर्मा ने संक्षेप में जो शब्द लिखे हैं उनके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

—केसरी

कदंब

[मिथिला-कॉलिज-होस्टल के प्रांगण में एक कुसुमित कदंब का वृक्ष ! सावन की भीनी-भीनी रातें और कवि का नातिदूर निवास ! उन पुलक-भरी घड़ियों में इस कदंब पर भूल-भूल कर कल्पना ने जो सपने देखे उनका ही एक धुँधला-सा शब्द-चित्र निम्नस्थ पंक्तियों में मिलेगा ।]

—केसरी

नाम मधुर मधुराक्षर हे अभिराम कदंब रसीले !
छवि से स्वप्नों से स्मृतियों से हे तुम गीले-गीले !!
अहा विलासी; वृन्दावन-वासी, ओ विधुर प्रवासी !
एकाकी तुम यहाँ,—कहाँ वे शाल-तमाल छबीले !!

चिर व्यतीत वैभव-विलास की ओ तुम एक निशानी ।
एक घड़ी उस हास-लास की जो बन चुकी कहानी ।
सुधि उकसाने वाले ! लगता अब भी इन डालों में—
टँगी कहीं होगी मोहन की मुरली वह रस-सानी !

अहो कल्पना के कल्पक ! कालिन्दी-कूल-निवासी !
पास तुम्हारे लगता हम भी बरसाने के वासी
और सघन मिथिला की अमराई कदली-कुंजों में—
लगता कहीं छिपे होंगे वे श्यामा-श्याम विलासी,

हे प्रियदर्शन ! हे अनंत के चिंतन करनेवाले !
समय-सिन्धु को गोपद-जल-सा ओ तुम तिरनेवाले !
देखा तुम्हें और भूला मैं द्वापर-कलि का लेखा—
हे कदंब ! तुमने मुझपर ये कैसे जादू डाले।

देखा तुम्हें आज कालिज के आँगन के पिछवारे
आसपास में कालिज की ऊँची-ऊँची दीवारें—
तुम्हें घेर कर खड़ीं और तुम सकुचाए खोए से
खड़े अकेले मलिन-गात अति विरल-पात मन मारे

और नहीं विटपी कोई, बस संगी एक पपीता
फलवाला बाहर प्रफुल्ल वह भीतर रीता-रीता
ईंटों की दीवार और भावना शून्य प्राणों की
गति समान—ये स्वप्नशील का क्या जानें मन-चीता

तुम्हें आज देखा मेरे ओ युग-युग के पहिचाने !
भूल गई तसवीर सनम की आँखों में अनजाने
इन काई से पुती हुई दीवारों के माथे पर—
मैं समझा तुम आए हो सुषमा का तिलक चढ़ाने

यह छवि की प्रभुता कि पत्थरों पर भी राज करे
विरस असुंदर में भी रस-सुषमा का साज भरे
ओ कदंब श्रीमंत ! शून्य इन ऊँची दीवारों पर
अरे तुम्हारी हरियाली नीलम का ताज धरे

× × × ×

प्राण ! आज पावस के नभ में उमड़ी-घिरी बदरिया
अवनी से अम्बर तक फैली सुधि की एक चदरिया
स्मृतियों के राजा ! अनंत इन विरहवंत प्राणों की—
आज भरेगी स्वप्नसीकरों से चिर शून्य गगरिया !

भादों की निशि तिमिर-ताल में तैर रही रंगीनी
फुहियों से भींगी पुरवैया बहती भीनी-भीनी
होस्टल की बत्तियाँ बुझ चुकीं छात्र सभी सोए हैं—
दूर कहीं से एक रोशनी आती झीनी-झीनी !

शांत सुप्त कालेज भवन—नीरव निशीथ की वेला
जाग रहे बस हम दो—मैं, मेरा कदंब अलबेला
पीर भरी कसमसवाली पुरवैया की लहरों में—
कहाँ नींद उस प्राणी को जो विरही एक अकेला।

इन निशि के गहरे प्रहरों में चमकी तड़ित्-शलाका
देखो, यह खिंच गया गगन मंडल में किसका खाका ?
हे कदंब ! यह अमा जगत के नयनों में अँधियाली
किंतु हमारे स्वप्नों की फुलझड़ियों की यह राका !

सुनो, आ रही धुनि वंशी की कहीं सुदूर गगन से
जिसके स्वर-समुद्र में डूबे तारे चाँद मगन-से
यह झिल्ली झंकार नहीं, है जिससे व्याप्त दिशाएँ
ये झुनझुन बज उठीं पायलें पृथ्वी के कण-कण से

पुलकभरी गोरी रस बोरी पृथिवी राधारानी
शून्य पहर मिल रही पिया से पहन चूनरी धानी
मिलन पर्व यह—अंग-अंग पृथ्वी का फूला-फूला
और स्निग्ध घनश्याम नयन में उमड़ा छल-छल पानी

(४)

लो रिमझिम की बजी बाँसुरी, प्रिय कदंब अब भूलो
खोल पलक-पल्लव प्रियतम घनश्याम काम-छवि पीलो
यह वर्षा त्यौहार स्वप्न अभिसार न खाली जाए—
कल प्रभात में राशि-राशि तुम वृंत-वृंत मे फूलो!

दरभंगा
१८-६-४५

कल तुम जाओगे !

कल तुम जाओगे ?
बीत गए दिन सात बात में
सात प्रात ढल गए रात में
ये सुख की घड़ियाँ लगतीं
जैसे कोई सपना प्रभात में
सच, कल तुम मेरी दुनिया से दूर कहीं छाओगे ?
कल तुम जाओगे ?

सबके बालम बड़े सनेही
मेरे ही तुम बने बटोही
कठिन माघ की रैन, और तुम
मुझको छोड़ चले निर्मोही !
अब यह रूप न पाल सकूँगी
अब यह छवि न सँभाल सकूँगी
कल से हे भगवान् ! न फिर मैं
दर्पण कभी निकाल सकूँगी !

किन्तु आज-भर मुझे न तुम धूमिल-बेदिल पाओगे !
कल तुम जाओगे ?

माँजी ने अपने हाथों से बड़ी लगन से खीर पकाई
मटके में भर रखी तुम्हारी प्रिय जो-जो पकवान-मिठाई।
और वहाँ वह आँगन में है गुलगुल रूईदार दुलाई—
बाबूजी की साध लिए तुम जाओ—घर से सिली-सिलाई।

बड़ी गरम होती, कहते वे, अपने घर की बनी दुलाई
हाय, बनी किरकिरी किन्तु इन आँखों में यह मधुर बिदाई।
यह सुख की चिन्ता, प्रसाद ये, यह अनुपम वात्सल्य लुनाई,
सब में देख रही अंकित मैं पत्थर की लकीर की नाईं—
'कल तुम जाओगे'!

कल तुम जाओगे?

अच्छा, लो मेरी अपनी भी एक चीज, यह एक निशानी।
मेरी याद बनाकर रख लो, अपनी इन आँखों का पानी।
मेरी याद न सूख सकेगी यह सावन की बदली धानी—
मेरी याद न चूक सकेगी, यह बिजली-सी भरी रवानी
मेरी याद लिये कैसे तुम मुझे भुला पाओगे?
कल तुम जाओगे?

कल तुम जाओगे?

एक महीने बाद फूट जाएगी जौ-गेहूँ में बाली,
झुक जाएगी छवि-सिंगार से सरसों राशि-राशि फलवाली।
चमक उठेगी मुसकाहट-सी खेतों में हल्की-सी लाली,
कहीं रुपहली, कहीं सुनहली, कहीं बैंगनी छटा निराली।
एक महीने बाद रामनवमी का वर्ष-पर्व, खुशहाली,
उस दिन गाँव-गाँव की माएँ पूजेंगी जगदम्बा काली

नया अन्न-त्यौहार, नये गेहूँ से सुरभित घर-घर थाली,
और नई सरसों से डर-डर पुर-पुर में होगी उजियाली।
उस दिन क्या तुम आ न सकोगे, मेरे परदेशी, बनमाली ?'
'बेटा ! और किसे दूँगी वे मधुर पूड़ियाँ पूजावाली ?'
उस दिन तुम्हें खिलाने को यह हौंस उन्होंने हिय में पाली,
माँ जी का उछाह बढ़ता है ज्यों-ज्यों खेतों में हरियाली।
आशीर्वाद-प्रसाद कहो, तुम कैसे ठुकराओगे ?
कल तुम जाओगे ?

और आम भी तो बालम ! तब बागों में गदराएँगे।
एक महीने बाद टिकोरों पर भँवरे मँडलाएँगे।
एक महीने बाद पिकी भी मंगल बीन बजाएगी।
वन-उपवन में कूक-कूक योगिन-सी अलख जगाएगी।
अरे बटोही, तब भी क्या सुधि तुम्हें न घर की आएगी।
तब भी क्या न तुम्हारे प्राणों की वीणा बज जाएगी ?
एक महीना माघ, तीस दिन उँगली पर कट जाने को,
चले पिया तुम फागुन में फिर फूलों के पथ आने को,
आस दिए जाओ घर तुम, मधुमास लिए आओगे।
कल तुम जाओगे ?

दरभंगा
१०-१२-४२

राम राज्य

मुझे स्वप्न से प्रीति सत्य को मैं स्वप्नों पर वारूँगा
तुझे छोड़ इतिहास ! कल्पना को मैं सदा सँवारूँगा।
सत्य एक बंधन स्वप्नों के पंख ! मुझे निर्बंध कर
एक साँस में मैं त्रिकाल को आज सगर्व पुकारूँगा !

लो, यह सपना सुनो—हिंद-सागर-तट शिविरावली तनी
तेजवंत पौरुष ज्वलंत-सा बैठे हैं साकेतधनी
नयन-नीलिमा में मानव-कल्याण-कामना झाँक रही
ज्यों नभ की कार्तिकी चंद्रिका जग में सुख-छवि आँक रही
रोम-रोम में कांति खिल रही अंग-अंग में दीप्ति फली
इस शरीर-विटपी का पर शृंगार शांति की एक कली।
कर में धनुष नहीं, बाकी है मौर्वी-अंक अमिट काला
हाय ! युगों से एक चिह्न यह उर में गड़ा हुआ भाला

खड़ी विजय-वाहिनी हिंद-सागर-तट शिविरावली तनी
तेजवंत पौरुष ज्वलंत-सा बैठे हैं साकेत धनी।

दृष्टि अचानक पड़ी हाथ पर, नयन राम के भर आए
क्षण भर में सदियों के बादल उस मुख-शशि पर घिर आए
कर पसार सबके समक्ष बोले साकेत-विहारी यों
आतपांत में मंगलमय ध्वनि करता घन नभचारी ज्यों

"सुख-दुख के साथियो! राम की इच्छा पर मिटनेवालो!
एक इशारे पर मेरे उदयास्त ध्वस्त करनेवालो!

तुम उद्वेलित-उत्कंठित—मैं देख रहा यह आँखों से
और जानता लड़ सकते तुम एक अकेले लाखों से
किंतु आज हनुमान! तुम्हें सीता की खोज नहीं करनी
और रक्त से नहीं आज रँगनी है लंका की धरणी

मेरे उर की पीर बंधुओ! हाय! तभी तुम जानोगे
मुझे नहीं भगवान् अपितु केवल मानव जब मानोगे
'समरथ को नहिं दोष गुसाईं''-नीति न यह मुझको प्यारी
मैं मानव मेरी प्रवृत्तियाँ शुद्ध मानवी हैं सारी

मेरे मन की व्यथा हाय! युग-युग की कसक-कहानी है
मेरे हाथ मनुष्य-मेध की पहली अमिट निशानी है
देखो मेरे हाथ और ये धब्बे जो काले-काले
विजय-चिह्न मत कहो इन्हें ये विषधर हैं डँसनेवाले!

दाग-भरे इस आग-भरे अथ को लेकर इतिहास चला
वर्ण-वर्ण में ह्रास और अक्षर-अक्षर में नाश चला
युद्ध राम-रावण क—ध्वनि यह प्रतिध्वनियाँ बनकर फूटीं
जानें तब से कितनों की निधि कितनी लंकाएँ टूटीं

इति जो हो सो हो परन्तु अथ इन हाथों में लिखा हुआ
रक्तपात का सूत्रपात, बस रामराज्य में लिखा हुआ

तुम अवाक् निस्तेज न हो"—यों बोल राम फिर मुसकाए
उमड़-घुमड़ कर बरस मेघ ज्यों शांत-सौम्य फिर हो आए

बोले फिर घनश्याम राम—अमृत की सरसी लहराई
'कौन पहेली और कहेंगे प्रभु'- यह उत्कंठा छाई
"ग्लानि तुम्हारे उर में जो बंधुओ ! उसे मैं भाँप रहा
देख रहा मैं युग-युग का आदर्श आज है काँप रहा

किंतु साथियो ! तुम्हीं कहो जो रौरव लंका-कांड हुआ
क्या न हाय ! वह दुखियारी जनता का आँसू-भांड हुआ
ऋषियों का पीड़न सीता का हरण-पाप भीषण भारी
और न्याय की माँग कि सत्वर दंडनाय अत्याचारी

किंतु महर्षि पुलस्त्य वंश के नायक की मनमानी से
एक नीच दानव-मति पर-पीड़क रावण अभिमानी से
सारा राष्ट्र ध्वस्त पिस जाए जल जाए सारी लंका
ऐसी दंड-नीति में मुझको होने लगी आज शंका

इसीलिए दुख मुझे न गर्वित रावण का त्रिकूट टूटा
त्रिभुवन-विजय-प्रतीक गगनचुंबी वह स्वर्ण-कलश फूटा
दुख परंतु यह मुझे कि कितने कृषक-जनों का हल टूटा
संसृति का संबल धृति-तप का फल धरती का बल टूटा

कितने दीन निरीहों की किस्मत फूटी, दुनिया छूटी
युद्ध-लुटेरों ने कितने वणिकों की हाट-बाट लूटी।
सच कहता दुख मुझे न लंकापति का शीशा-महल टूटा
दुख यह हाय ! मजूरों का बटमारों ने कंबल लूटा

युग-युग की जनता के अथक परिश्रम की विभूति सारी
कवि-कोविद के स्वप्न-नीड़ प्रतिभा की मंजु चित्रसारी
सब जल गए ! किंतु इनका था पाप कौन? क्या दोष—कहो !
फिर प्रतिशोध चंडिका का इनपर उभड़ा क्यों रोष—कहो !
युग-युग का यह सत्य कि जनता गूँगी—प्रभुता है बहरी
किंतु न्याय की तुला राम के वरद हाथ में जो ठहरी !
इसीलिए साथियो ! आज यह सफल विचार-विमर्श हुआ
रचना है हमको भूतल पर राम-राज्य आदर्श नया
"पिछले युग की बात कि हममें कुछ बानर कुछ थे दानव
और आज हम देव और दानव के ऊपर हैं मानव
इसीलिए नल-नील ! बँधे फिर सेतु बने प्रस्तर तरणी
आज हमें घोषित करनी है—लंका जनता की धरणी
सोने की हो भले न पर लंका तो हमें बनानी है
और केसरी-कुँवर तुम्हें ही पहली ईंट गिरानी है।"

दरभंगा
१५-८-१९४४

आश्वासन

अंधकार के देव! मना लो अमा-पर्व तुम खुल के
तुम न सुनो चीत्कार किसी गुलचीं के या बुलबुल के
किंतु एक चंद्रमा बुझाने से न विभा मिटती है—
बनती चाँद एक मुट्ठी मिट्टी सनेह से जल के।

तिमिर-काव्य रचनेवाले! सूखे न तुम्हारी स्याही
लिखो धरा की इंच-इंच में विपदा और तबाही
किंतु विश्व-कल्याण-कामना का कवि चुप न रहेगा
उसकी कलम किरण की लिखती विभा-सृष्टि मनचाही

तुम कर लो छवि की—सुहाग की—आशा की—बरबादी
अरे प्रमादी! अंध-जड़ित कर लो जनपद-आबादी
किंतु मरण पर जीवन की—तम पर प्रकाश की जय है
जबतक घट में स्नेह और मिट्टी जलने का आदी!

हो चाहे निराश अंबर के महलों की ठकुरानी
क्योंकि गया बुझ प्रभुता का गौरव-दीपक नूरानी
किंतु बिहँसती लिए हुए मेरी कुटिया की रानी
लघु-लघु दीप वर्तिका लघु दो बूँद स्नेह-रस-सानी
ऐसे ही असंख्य जन-मन की लघु-लघु चिनगारी से
पल-पल तुम मिट रहे अरे ओ अन्धकार अभिमानी!

*

एक पत्र

तुम जितना चाहो मुझसे गीले गान लो
पर बदले में पीड़ा को आँसू-दान दो!

सुनते हैं कोमल बड़ी तुम्हारी छाती
फरियाद तुम्हें बुलबुल की सदा रुलाती
चातक की पी की याद तुम्हें सिहराती
वेदना पराई तुम्हें चोट दे जाती
इसलिए बंधु! यह लिखी पीर की पाँती

तुम पढ़ो और हमदर्दी का प्रतिदान दो
तुम जितना चाहो मुझसे गीले गान लो!

तुमने मानव का हाहाकार सुना है
अवनी पर ही रौरव चीत्कार सुना है
कंकड़-कौड़ी का मोल जहाँ मानव का
ऐसा तुमने जीवन-व्यापार सुना है?

चिलबिल कीड़ों-से जहाँ रेंगते-पिसते
नर-नारी—वह तुमने परिवार सुना है?
जिनका जीवन है भार और मरना भी—
जीने से भी ज्यादा दुश्वार सुना है?
मैं कवि विहार का-नरक-द्वार पर जाकर
सुन लो मैंने क्या देखा और सुना है।

भूकंप बाढ़ से जिसकी जर्जर काया
फिर कोप महामारी का जिसपर छाया
यह विद्यापति का देश आज मरघट है
भुखमरों और कंकालों का जमघट है
मैंने देखे रे लाख-लाख घट प्यासे
पर हाय! यहाँ सूखा जीवन-पनघट है!

ये सब मुर्दों के गाँव ध्वंस के टीले
ये गुर्बत की चक्कियाँ विपत की कीलें
जिंदगी मौत के दो पाटों के भीतर
पिस-घिस कर क्षण-क्षण, कोई कैसे जी ले!
इसलिए यहाँ रे बेलि-विटप भी पीले
पृथ्वी शलाब से नर आँसू से गीले

यदि आँख तुम्हें है मिली कल्पनावाली
यदि पाँख तुम्हें है मिली भावनावाली
तो देखो वह जो खड़ी विटप के नीचे
नख से कुरेदती भूमि नयन को मीचे

वह पगली हाय ! अभागिन दुख की मारी
दिल जितना उसका फटा न उतनी साड़ी
मैंने देखा है उसे कि जब किस्मत के
शूलों को वह सोत्साह रौंदती जाती
कर चूर गरीबी के पत्थर-रोड़ों को
वह वेगवती गंगा-सी थी हहराती

थी कुटी सड़ी फूसों की किंतु उसीमें
गुलजार गिरस्ती की सुगंध थी फैली
बेटा जवान बेटी गोदी की शोभा
इनसे बढ़कर क्या है कुबेर की थैली ?

कुछ और नहीं पूँजी—मिट्टी के भाजन
बस पीतल की थाली काँसे की लुटिया
क्या और चाहिये जब कि राम-सा बेटा—
बलवान, और सीता-सी मीठी बिटिया !

तब यह पगली थी एक गर्विणी माता
अब क्या है ? बोलो अरे कठोर विधाता !

मैंने देखा है—जब कोशी उफनाई
वह कुटी बह गई खर-पातों की नाईं
फिर भूखी बाघिन-सी मलेरिया टूटी
लुट गया राम, माता की किस्मत फूटी

यदि बच्ची भी बचती आँखों का तारा
तो भी माँ को कुछ मिलता आह ! सहारा
पर हाय ! बहन-भाई ने दोनों मिलकर
उस दुखियारी का जीवन-बाग उजाड़ा

तुम देख रहे जो यह सूखी-सी ठठरी
मुट्ठी भर की यह हाड़-चाम की गठरी

इसमें बहती थी गरम लहू की धारा
अधरों पर उड़ता था गुलाल-फव्वारा
इन आँखों में थी जली रूप की राका
इन प्राणों में थी ढली पियूष-शलाका

मैंने देखा है—इंदु-सरिस इस मन से
मैंने देखा है—विंदु-विंदु इस तन से
निकला है खूँ बन दूध और दृग-पानी
निकली है बू झंझा बन इस जीवन से

अब बुझी ज्योति इन आँखों की, पर देखो
इनमें सनेह का नीर अभी भी बाकी
यह सूखी छाती किंतु चीरकर देखो
इसमें माता का क्षीर अभी भी बाकी

पर हाय ! चार पैसों के लिये सुधा की
यह सरसी इस बसुधा में सूख गई है
भगवान् ! मर्त्य के चाँदी के टुकड़ों को
पाने में तेरी कमला चूक गई है

प्रिय बंधु ! सुनी तुमने यह व्यथा-कहानी
कुछ एक नहीं इसके अनेक हैं सानी
यह विद्यापति का देश इसे अपनाओ
यह भीख माँगती तुमसे मेरी वाणी

●

दरभंगा
१२-६-४४

जेठ की गंगा से

हे तपी देश की पुण्य तापसी गंगा !
हे युग-युग से इस आर्य-भूमि की—
सिद्धि-छाप-सी गंगा !

तुम इस निदाघ में आज और भी
भारत के अनुरूप हुई
जब वह्नि-दाह में लू-प्रवाह में
धरा तप्त विद्रूप हुई

जब नाच रहा है अनाचार का
दानव भीषण नंगा
तुम आज और भी भारत के
अनुरूप हुई हो गंगा !

तुम एक अमर विश्वास लिए बहती हो
तुम भारत का इतिहास लिए बहती हो

तुम ओ अमरों की प्रिया ! विष्णु-पद-जन्या
तुम पार्थिव कारा में निबद्ध भी धन्या !
तुम विरल-नीर इस कृश शरीर पर कैसे
युग का पीड़न-अभिशाप-पाप सहती हो
किस चिदानंद किस गुरु गभीर आत्मा का
नित बर्द्धमान उल्लास लिये बहती हो !

तुम जेठ महीने में कैसे मधुमास लिए बहती हो !
तुम किस भावी का एक अमर विश्वास लिए बहती हो !
तुम इस दुरंत दुर्दिन में भी नित कल-कल-कलित-तरंगा
तुम सच संचित साधना-तपस्या भारत की हो गंगा !

वह तप्त देश अभिशप्त वहाँ के वासी
गंगा ! तुम जिसके बनो चरण की दासी
वह सुप्त लुप्त-अनुभाव-प्रभाव विलासी
है रिक्त कलश-सी उसकी मथुरा काशी

सुरसरि ! जिस पुण्य देश का अबतक तुमने मरण सुधारा
था सिद्ध लोक जिसका केवल परलोक चिंत्य अति प्यारा
उस पतित देश—उस व्यथित देश को आज न नरक डराता
अथवा अपवर्ग स्वर्ग का मोहक रूप न उसे लुभाता
इसलिए कि उसका जीवन ही बन गया नरक की ज्वाला
इसलिए कि उसका जीवन ही बन गया चिता-सा काला

अब मरण न, जीवन के रौरव से उसे उबारो गंगा
पीछे होगा परलोक प्रथम तो लोक सुधारो गंगा !

दरभंगा
१६४४

सूखा गुलाब

मैं गुलाब का फूल मुझे
मेरे राजाजी छोड़ गए!
जाने रूठ गए क्यों मुझसे
क्यों मुझसे मुँह मोड़ गए!

मेरी छवि मेरी सुगंध को
था जब उनका प्यार मिला
आँखों की मधु-धार और
हाथों का परस उदार मिला!

मैं समझा मुझको दो क्षण
हँसने का अब अधिकार मिला
मैं समझा मुझको दो क्षण
जीने का कुछ आधार मिला!

किंतु हाय ! उस प्यार बिना
अब तो जीवन बेकार बना
यह छवि यह सुहाग यह यौवन,
यह सिँगार बस भार बना !

किसके लिए आह ! कोमल
साँसों में सौरभ ढोऊँगा
किसके लिए प्राण-संपुट में
मधु-मकरंद सँजोऊँगा !
रोम-रोम में लाख-लाख
दीपों में नव सनेह भरकर
किसके लिए बता दे कोई
मैं आरती सजाऊँगा !

मैं न रहूँ अब फूल
धूल बनकर जगती में खो जाऊँ
जिसने दिया रूप उस धरती में
अरूप बन सो जाऊँ !
किंतु जिसी क्षण प्रियतम को
मेरी फिर याद रुलाएगी
मुट्ठी भर यह धूल उसी क्षण
फिर गुलाब बन जाएगी !

दरभंगा

आँसू का चिराग

तुम कहते, मेरे गीतों में कोई सुखद प्रसंग नहीं
गहरी अपने में डूबी सरिता में बंधु! तरंग नहीं

मैंने जिस जीवन को देखा सुख-श्री उसका अंग नहीं
देखे ऐसे दीप कि जिनको मिला स्नेह का संग नहीं
अँधियाली दीपाली में भी देख उमड़ झड़नेवाले-
ऐसे मेरे गीत पीर के, इनमें बंधु! उमंग नहीं!

तुम भी देखोगे जीवन वह, आशा जिसकी फली नहीं?
फुलवारी सुहाग की वह, जो मधुऋतु में भी खिली नहीं?
पूनो में भी जिस शशि-लेखा की अँधियाली टली नहीं?
दीपाली वह जो सनेह से मिली नहीं—जो जली नहीं?

देखो साँझ हुई सारी बस्ती में चहल-पहल छाई
दीपाली की साँझ वर्ष भर की मनुहार लिए आई
बहनों के भाई, माँओं के परदेशी बेटे आए—
घर-घर में हो रही आज बिछुड़े प्रियतम की पहुनाई।

देखो घर वह किन्तु एक—मिट्टी की दीवारें काली
चमक उठी है जिन पर गोबर की चिकनाई छविशाली
'चौरठ' के टटके छींटों के चित्र-कलश-हाथी-घोड़े
और द्वार पर कढ़े हुए मिलनातुर चिड़ियों के जोड़े

आँगन में अमरूद और गागल के फल रस में डूबे
किसी प्रतीक्षा में जैसे वे भी पीले-पीले ऊबे

सजी दियरियाँ एक थाल में-कच्ची रूई की बाती
गढ़-गढ़ डुबो-डुबो कर घी में जो सत्वर रखती जाती
उसको देखो! रूप-सम्पदा की उस वपु में कमी नहीं
किंतु कल्प-लतिका यह इस पृथ्वी पर जड़ से जमी नहीं

जीवन की दीनता जेठ की लू-सी झुलसानेवाली
भर न सकी वसंत में भी उसके अरमानों की डाली
वर्ष-पर्व है, आज लगी प्रियतम की सुधि की डोरी है
चाँद उगेगा ही पूनो में, आशा-भरी चकोरी है

साँझ हुई घर-घर में विभा-पर्व की फुलझड़ियाँ छूटीं
और हाय! इस तपस्विनी की आशा की लड़ियाँ टूटीं
प्रथम दीप जो जला हाय! वह हाथों में ही अँटक रहा
मन का पंछी इस शरीर-पिंजड़े के बाहर भटक रहा

तड़प उठे अरमान दीप में, नयन-नीर छलछला उठा
लिए वेदना की लौ आँसू का चिराग तिलमिला उठा
कैसा यह त्यौहार हाय! कैसी यह अकथ कहानी है
इस घर में जल रहा विरह का दीप, नयन का पानी है

× × × ×

क्यों—जानें अन्तर्यामी ! मानव इतना लाचार हुआ
कितने जन के लिए आज अभिशाप पर्व-त्यौहार हुआ

जिसे तीस रुपयों में तीस दिवस की क्षुधा बुझानी है
हाय ! जिसे अपना घर भी है, अपनी मीठी रानी है
और जिसे दिल भी है, दिल में चाह बड़ी मस्तानी है
किन्तु गाँव है दूर, पास में एक न कौड़ी कानी है
उसी बटोही के घर की यह मैंने कही कहानी है।

दरभंगा
१६४४

याद में

याद भी तुम रोक लोगे! —यह न होगा
आँख की यह चूक वह सीमित रही
पर हृदय का हूक तो निस्सीम ही
आँख का मधुवन लिए तुम दूर हो
किंतु हृदय-निकुंज में जो कूकती—
उस पिकी को टोक दोगे! —यह न होगा
याद भी …………

पुलक मेरी बन गई आकाश-सी
सुधि तुम्हारी खिल रही शशि-हास-सी
प्यार का जादू कि देखो तुम कहाँ
और फिर क्या तुम न मेरे पास भी?
मैं उगाता हूँ जिसे प्रति साँस में
चाँद भी तुम रोक लोगे!—यह न होगा
याद भी ………

मूक वह संगीत की झंकार है
बंद हास-विलास का व्यापार है
किंतु क्षण के कर-परस से आज तक
हिल रहे जो गुनगुनाते तार हैं—
यह विपंची और अन्तर्नाद यह
रोक लोगे तुम कभी भी! —यह न होगा
याद भी ... ...

धुल गई जो छवि तुम्हारी पीर में
घुल गई जो छवि नयन के नीर में
फूल कैसे रोक लेगा तुम कहो
मिल गई जो सुरभि साँस-समीर में
यह मधुर संबल विरह अवसाद यह
रोक लोगे! —यह न होगा, यह न होगा!
याद भी ... ...

एकौना
१९४५

गीत

प्यार है मधुमास तो यह पीर भी बरसात है
प्यार है पाटल विकच तो पीर सजल प्रभात है!
जिंदगी मेरी पली यह पीर के रस-बिंदु से—
पीर पुष्करणी भरी यह प्यार नव जलजात है।
प्यार है मधुमास ... ...; ... ...

पीर का मकरंद-परिमल ही न जब रह जायगा—
जिंदगी पतझार मानो प्यार झड़ता पात है!
प्यार है मधुमास ... ...

प्राण! तेरी याद की यह कसक कविता बन गई-
गीत बन जाती सदा जो पीरवाली बात है!
बंधु! मेरे गीत ये फिर करुण गीले क्यों न हों—
बज रहे इस बाँसुरी में पीर के सुर सात हैं!

दरभंगा
१०-४-१६४४

बेली का फूल

युग-युगांत तक इस पृथ्वी ने दुख-विपदाएँ झेलीं
किंतु न कब अधरों पर इसके मुसकाहट है खेली !
जल-जल कर यह सती बनी रहती पार्वती नवेली
और नहीं तो इस निदाघ में खिलती कैसे बेली !

छवि-विहीन हो जाय धरा रवि ने जैसे यह ठानी
क्या गति ? जब पोषक ही शोषक-सा करता मनमानी
हाय ! नीरसा हुई रसा-आँखों का सूखा पानी
किंतु कलेजे की गंगा में फिर भी वही रवानी

मधुऋतु के शृंगार चू गए चम्पा और चमेली
किंतु तपस्या की विभूति-सी फूल रही है बेली

यह दुरंत दुर्दिन अंबर में धू-धू आग लगी है
झड़ती चिनगारी दिगंत में ज्वालामुखी जगी है
प्रकृति-शीतला किंतु धरा फिर भी सुख-स्वप्न-पगी है
बाहर है तूफान नीड़ में ज्यों निश्चिंत खगी है

मन के मोद-हिमालय की गोमुखी सदा बहती है
सुख-दुख दोनों में समान यह धरा सुखी रहती है

प्रभु का यह वरदान कि पृथ्वी सेवा-त्याग न छोड़े
जल-जल कर भी छवि से—रवि से नाता कभी न तोड़े
फूल प्यार के करुणा की छाया कण-कण में जोड़े
यह मालिन न कभी अपनी फुलवारी से मुँह मोड़े

यह वरदान कि सुन्दरता की खाली हो न चँगेली
इसीलिए तो इस निदाघ में फूल रही है बेली!

एकौना
१९४५

मेघ

उमड़ी माँ की याद मेघ ये अंबर में घिर आये
लगी होड़ है कौन प्रथम माँ-चरणों पर गिर जाये

सुन पुकार माँ की सज आई यह सेना बलिदानी
सुधि है कितनी प्रबल आह ! दिल इनका पानी-पानी

सुना कि जननी-जन्मभूमि में ज्वालामुखी जगी है
दिग-दिगंत में छवि-अनंत में धू-धू आग लगी है
सुना कलेजे में जननी के दुख की फटी दरारें
तड़प रहा मन-मीन हृदय के सूखे प्रीति-पनारे

चले अधीर पुत्र कहते यों—'माँ आए, हम आए !
लो, हम शीश-शिखर पर तेरे आतपत्र बन छाए

छाएँगे उदयास्त आज हम तू फिर सुखी बनेगी
एक-एक संतान आज तेरी गोमुखी बनेगी!
एक नहीं हम कोटि-कोटि धाराओं में फूटेंगे
दूरवर्तिनी इस अंबर-कारा से जब छूटेंगे

तेरे उर की पीर जननि! हम आँसू से धो देंगे
प्राणों में तेरे नवीन आशा-अंकुर बो देंगे
हम आए माँ हमें चाहिए प्यारा अंचल तेरा
तू ही स्वर्ग हमारा तू ही जीवन-मरण-बसेरा

एकौना
१९४५

छवि

फूलों का मुकुट-किरीट और नीलम-सिंहासन छोड़
सखि, वसंत उजड़ी दुनिया से चला गया मुख मोड़
और तुम ओ वसंत की रानी
किस सपने के मधु में सोई मुसकाती कल्याणी
अरी छवि ! ओ दीवानी !

आज न शीश-महल मधुवन का किशलय झालरदार
बन्द हुए वे डाल-डाल के मुखर सितार हजार
सूख गया निदाघ के आते परिमल-पारावार
कहाँ तुम ओ सुकुमार
कहाँ रचोगी विश्व विमोहन वह सोलह शृंगार
कहाँ होगा प्रेयसि ! अभिसार?

× × × ×

मैं न केवल मोहिनी मधुमास की
फूल के पथ मलय के रथ जो चले दिन यामिनी
तितलियों-सी जो सदा मधु-गंध की अनुगामिनी
मैं नहीं वह कामना की कामिनी

मैं न केवल शोभिनी मकरंद सुरभि बतास की
मैं न केवल मोहिनी मधुमास की

× × × ×

मैं जीवन में हँसने की एक कहानी हूँ
मैं सदा एकरस ज्यों वसंत त्यों ही निदाघ में धानी हूँ
जब खरी दुपहरी में निदाघ का पथिक एक बेचारा
हाँफता त्रस्त हरिणी-सा तप्त विजन वन में पथ हारा
माँगता-कहाँ है अरे कहाँ शीतल कोई जलधारा
मिलता है किंतु उसे ऊपर-नीचे केवल अंगारा
मैं उसके लिये तृप्तिवाली कल-कल सरिता का पानी हूँ
मैं जीवन में हँसने की.........

पग में छाले हैं पड़े गड़े हैं शूल न जाने कहाँ-कहाँ
यह एक बटोही है-जाने इसका अपना है कहाँ-कहाँ
माँगता-अरे है छाँह कहाँ श्रम दो क्षण बैठ जहाँ खोता
तबतक वह दीख पड़ा जैसे उमड़ा हरियाली का सोता
मैं उसकी सघन पत्तियों की अर्चनाभरी अगवानी हूँ
मैं जीवन में हँसने की एक कहानी हूँ

ओस-कण

ओस-कणों के कल्पक हे
चल सपनों के रचनेवाले
कैसे तुमने तिमिर-गर्भ में
ये प्रकाश के शिशु पाले!

हे विश्वास-लोक के वासी
कवि अभिलाषी मतवाले
कैसे तुमने अंध कुहा में
हँस-हँस ये मोती ढाले

ये मोती ये सृष्टि-शीश पर सुन्दरता की बिंदी-से
एक जागरण-शब्द जिसे सुन जग उठ गया उनींदी से

ये मोती ये फूल धरा के अधरों पर मुसकाहट-से
कनक-द्वीप की विभा-सुन्दरी के आने की आहट-से
कठिन कर्म की खरी दुपहरी वह इनके अनुकूल नहीं
अग्नि-सेज पर चढ़ने को है बना कोयला, फूल नहीं

स्वप्नों के राजा! तुम जग में
दो क्षण छवि का दान करो
स्वप्नों के गायक! तुम जग में
दो क्षण सुख का गान करो

दो क्षण ही यदि विधुर विश्व को
मिले स्वर्ग की मधु-झाँकी
कुछ भी तो सहनीय बनेगा
जीवन का गौरव बाकी

पथ के पत्थर से

है ठेस लगी जिस राही को उसकी कुछ बात सुनेगा तू
रे पथ का पत्थर ! दिल ठंडा कर क्या यह तथ्य सुनेगा तू
यह पथ है जिस पर जीवन का अथ इति में जाकर ढलता है
यह पथ जिसपर मानवी मनोरथ का रथ युग से चलता है

यह पथ जिसकी यह धूल प्रेम की एक प्यास दीवानी-सी
कितने हजार पद-पद्मों के मकरंद बिंदु में सानी-सी
यह पथ जिसकी यह धूल चरण की जानी-सी पहिचानी-सी
धरती से मानव के लगाव की नीरव एक कहानी-सी

जो गाते गये निकल उनकी गति-मति की अमर निशानी-सी
जो रोते गये विकल उनकी आँखों के सूखे पानी-सी

यह पथ जिसपर यह घास मेनका की सुकुमार वरौनी-सी
खिल रही आस-मधुमास लिये उल्लासमयी पिक-छौनी-सी
यह पथ जिसकी यह घास आस-विश्वास लिये लहराती है
जीवन सुख है, जीवन छवि है,—गाती पथ क्लांति मिटाती है

यह पथ जिसपर कुश-कंटक भी संकेत-स्वस्ति ले खड़े हुए
वह दाग न मिटने वाला है ये जहाँ-जहाँ हैं गड़े हुए
संभ्रम न करो, संयम से हो पदन्यास न हो लापरवाही
यह पथ है पावन छिपी यहाँ रवि-शशि तारों की परिछाईं।

पर रे त्रिशूल, रे पत्थर! इस पथ से तेरा क्या नाता है?
कोई कैसे भी चले यहाँ तेरा इसमें क्या जाता है
तू स्थान भ्रष्ट तू एक कष्ट तू नष्ट-भ्रष्ट करनेवाला
तू जड़ मति-मंद अंध जिस-तिस को नित ठोकर देने वाला

तू दंभ व्यंग विद्रूप घृणा का
एक भुजंगम काला है
जो अपना पुंजीभूत हलाहल
सदा उगलने वाला है

तू सृजन-लोक से दूर यहाँ केवल विनाश पर तुला हुआ
हो खेत किसीका भले किंतु तू साँढ़ सरीखा खुला हुआ
तू चोट अरे केवल कचोट तू जीवन-पथ का रोड़ा है
कितने तीर्थों का सलिल-भरा मंगल-घट तूने फोड़ा है

रवि-रथ से होड़ लगाने को क्या कभी चला तू संपाती
जो इस पथ पर परकटा पड़ा निरुपाय अरे तू उत्पाती
अमरों की भोग्य सुधा पीने निश्चय तू कभी गया होगा
रे मद्यप असुर! कभी तू ने शिव-सुन्दर रूप लिया होगा

तू निश्चय राहु-केतु इस जग के राका-पथ पर गड़ा हुआ
प्रतिशोध-धुएँ से उजियाली काली करने पर अड़ा हुआ
तू चूक गया दो टूक हुआ इसमें जग का अपराध कहाँ
है सिद्धि अन्य के हाथ साध भी चलती कहाँ अबाध यहाँ

तू स्वयं ध्वस्त अपदस्थ किंतु
इसके क्या ये होते मानी
जो किया करे तू इस पथ
चलनेवालों के सँग मनमानी!

वह देख एक राही इस पथ पर अपनी बंशी टेर रहा
यह एक नया बालारुण जग को स्वर-किरणों से घेर रहा
उसकी धुनि चली और वन के-उपवन के पंछी नाच उठे
उसकी धुनि चली और जन-गण के मन निज कविता बाँच उठे

वह चला जा रहा, सुधि न उसे उसके पद किधर बढ़े जाते
सुधि किस गायक को पद की रे जब स्वर के तार चढ़े जाते
वह भूल गया उसके पद हैं या गति में यति का घेरा है
वह तो जैसे स्वच्छन्द शून्य में फैला हुआ सबेरा है

तबतक यह ठेस लगी तुझमे पद रुका और माथा ठनका
क्षण भर में वह कैलाश-शिखर से गिरकर बना तुच्छ तिनका
रे अभिशापित पत्थर पथ का ! यह प्रायश्चित की रीति नहीं
जो बनी अहिल्या पत्थर से उसकी थी ऐसी नीति नहीं

यदि तू भी यह चाहता कि युग का सत्य तुझे स्वीकार करे
यदि तू भी यह चाहता कि तेरा पुरुषोत्तम उद्धार करे
तो पर-पीड़क दारुणखंडन की दुरभिसंधि से तू मुड़ जा
सन्मार्ग पकड़ मंडन का किसी शिवालय में जाकर जुड़ जा

दरभंगा
१५-६ १६४३

भावी के प्रति

हे मनुष्य के भाग्य देवता ! किस अदृश्य गिरिवन में—
छिपे कहाँ तुम हे स्वाती के जलद ! सुदूर गगन में;
परवश पिंजर-बद्ध चकोरों की हे चंद्र-कुमारी !
कब उतरोगी तुम आशा-नभ से विश्वास-नयन में !

हे भविष्य की स्वप्न-परी ! तेरे नूपुर-शिंजन से—
ध्वनि-प्रतिध्वनि से तार हमारे प्राणों के झन-झन से
पराधीन भारत के कवि की मूर्च्छित मूक विपंची—
कब कर देगी मुखर विजयिनी अधर-परस चुम्बन से

भावी ! कह, हम तृषितजनों की छिपी कहाँ पुष्करिणी,
बटमारों से घिरे हुओं की बोल, कहाँ है सरणी ?
सदियों से हम पार उतरने वालों का कह, खेवा—
कब पहुँचेगा, बँधी कहाँ किस घाट हमारी तरणी

तप्त साँस कब उमड़ करेगी आँधी की तैयारी
दीप्त प्रपीड़न से घूर्णित कब होगा खर चिनगारी
शप्तधरा का हिम-प्रपुंज कब वमन करेगा भास्वर
रौद्र तेज पौरुष-प्रतीक फिर कार्तिकेय वपुधारी।

आज नहीं आतंकित उतनी भारत भूमि हमारी
किरण-मालिनी शस्यशालिनि अमरावती दुलारी
जितनी आह ! कलंकित-शंकित उन पापाचारों से
उनसे जो घर लूट रहे अपना ही बन व्यभिचारी

हमें आग चाहिये, आग दे हे भावी के दाता !
लोभी और घूसखोरों का स्वांग न देखा जाता
गलित अंग गल जाय देश हो तपःपूत बलशाली
आत्म-शुद्धि की अग्नि-परीक्षा माँग रही है माता !

हमें चाहिये मुक्ति मुक्त हो सबल हमारी वाणी
नई सृष्टि के लिये चाहिये हमको नई जवानी
हे भविष्य-देवता ! बता अड़तीस कोटि प्राणों में—
कब उछलेगी भादों की गंगा की नई रवानी

उदय-शृंग पर कब फूटेगा
छवि दिनमान हमारा
कब गाएगा भृंग-सदृश
त्रिभुवन जय गान हमारा
कब उदयास्त बीच जल-थल-
नभ पथ से हम विचरेंगे
सत्य अहिंसा का कब होगा
फिर अभियान हमारा

शांति पर्व में

स्वागत हे मोहिनी देवि ! इस नवयुग पुण्य प्रहर में !
एक हाथ में अमिय लिये मद-कलश दूसरे कर में
क्या दोगी बोलो विलासिनी ! चिर पिपासु मानव को
प्राणों में पीयूष कि मादक मीठा जहर अधर में

एक नहीं सागर समस्त भूमंडल के मंथन से—
अतल वितल पाताल और दिवि सूर्य चन्द्र कम्पन से
तुम निकली अयि रत्नमालिनी ! बोलो आज तुम्हारा!
स्वागत कैसे करें देवि ! क्रन्दन या अभिनन्दन से

अभी कहाँ प्रतिहत पृथ्वी का पारिजात है फूला
अभी-अभी तो हुआ शांत दुर्दांत विनाश-बगूला
अयि वसंत-दूतिके ! कूकवाली कोयल मतवाली
अभी कहाँ मंजरियों से मंडित रसाल का भूला

पीकर रक्त प्रमत्त आज जो मानव सत्ताधारी
बोलो क्या होगी उनकी तुम थपकी एक खुमारी ?
याकि तुम्हारे पाणि-परस से व्याघ्र-कल्प मनुजों का
मन होगा मेमना, मंत्र-कीलित ज्यों विषधर भारी !

मरण-घाट से चली पुतलियाँ जीवन-पर्व मनाने
चले सूत्रधर विघटन के अब सिरजन-नाट्य सजाने
किंतु देवि ! इन कालनेमियों पर विश्वास न जमता
केवल कर से नहीं जिगर से किरच गिरे तब जाने

देवि ! सँभालो, विजय-गर्व यह कहीं न बन संपाती
चले लूटने लोक-भाग्य दिनमान स्वर्ग की थाती
और जनकनन्दिनी-सदृश विजितों के चीत्कारों से—
कहीं न फटजाये वसुन्धरा की छाती हहराती !

स्वागत हे करुणा के सावन-भादो की रसधारें !
स्रावित करदो इस तापित धरती के कूल-किनारे
लोभ-घृणा की रण-भेरी को कुंठित करनेवाली—
स्वागत प्रीति-बाँसुरी की हे मधुर-मदिर झंकारें !

जलो शांति की होम-शिखा
निर्धूम अवनि-अंबर में
जलो आज निष्कंप मुक्ति
दिशि-दिशि में डगर-डगर में
अयि सुवर्चले ! मधुगंधी !
बारूद गैस से कलुषित
जलो मनुष्य-देवता के इस
चिरनमस्य मंदिर में

दरभंगा
१०-४-१९४४

स्वस्ति–प्रशस्ति

जागा उगा दिनमान स्वस्तिमान देश का
जागा उठा इन्सान वर्द्धमान देश का
यह हिन्द आज पूर्ण इंदु-बिंब-सा हुआ—
उमड़ा समुद्र-राष्ट्र प्रवहमान देश का

हर साँस में सुवास घुला; कान-कान में—
कहता 'उठो-उठो' मलय-पवमान देश का !
उत्थित हिमाद्रि-शैल से दिगंत फैल कर—
तारों को झन-झना रहा जय-गान देश का !

भुगती हुई हैरानियाँ कुर्बानियाँ सभी—
रंगीनियाँ बनीं ! –अहो अभिमान देश का !
सिंच-रक्त-रंक से निदाघ-क्रांति दाह में—
शुचि पुंडरीक-सा पला बलिदान देश का

निकला दहाड़ता हुआ गुहा से केसरी
चौंका हिला जमीन-आसमान देश का
मुरझी हुईं रगों में खून खौलने लगा
फिर रौद्र तेज पुंज भासमान देश का !

फिर शाण का सिंगार चढ़ा वज्र सार पर-
चमका शरीर शीर्ण वेपमान देश का !
पथभूमिपाल ! दो समुद्र ! सेतु दो, चला—
यह सत्य-केतु मुक्ति हेतु यान देश का !

जिसमें विधूम मुक्ति-शिखा जल रही सदा
वह दीप हुआ दीप्त प्राण-प्राण देश का !

जो कूटनीति कालकूट को पिए हुए—
जिसके सुरों में बोलता ईमान देश का !
जो अंग-अंग में तरंग गंग की लिये—
जो हिंद चन्द्रमौलि शक्तिमान देश का !
तुमको पुकारता विषाण फूँकता हुआ
तुमको पुकारता सुनो गीर्वाण देश का

तुम भी चलो चली स्वराष्ट्र-वीर वाहिनी
तुमको पुकारता अरे भगवान देश का !!

दरभंगा
१०-१०-४५

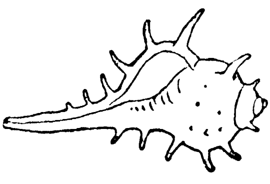

निखार पर चढ़ी धरा निखार पर

सिँगार कर शरद्-सखी सिँगार कर
निखार पर चढ़ी धरा निखार पर

नहा चुकी विमुक्त वारिधार में
जुड़ा चुकी फुहार की बहार में
डुबा चुकी हजार बार चंद्रहार
प्रमत्त तैर-तैर धुआँ धार में
खुला शरीर कर कि जरा धूप चढ़े
किरण गढ़े सुवर्ण जरा रूप बढ़े
इसीलिये जलार्द्र मेघ-चूनरी
उतार धर शरद् सखी ! उतार धर
सिँगार कर शरद्-सखी! सिँगार कर
निखार पर चढ़ी धरा निखार पर

पिन्हा सुफेद कचुंकी सु-कास की
मनोज्ञ चौमचीर शस्य-राशि की
पराग अंगराग दे सुगंध दे
प्रसून गुच्छ पूर्ण वेणि-बंध दे
प्रमोद-कंद कुंद हरसिँगार का
नवीन कर्ण-फूल कंठहार दे
प्रफुल्ल केतकी मनोज-सेज पर
निचोल श्वेत कौमुदी पसार दे
निहार ले स्व-छवि जरा निहार ले
धरा जरा सिँगार निज सुधार ले

इसीलिये शशांक - शुभ्र - आरसी
सँवार धर शरद-सखी सँवार धर
सिँगार कर शरद-सखी सिँगार कर
निखार पर चढ़ी धरा निखार पर

दरभंगा
१४-१०-४५

फाल्गुनी

कौन तुम न्यारी अरी ज्योति में सँवारी हुई !
कवि को तुम्हारी छवि कल्पना-सी प्यारी हुई !!

नयन मयन-बाण चढ़े
चितवन से सुमन झड़े
शुभ्र चंद्र-किरण कल्प
चरण छूम-छनन करे
कौन तुम विरज विशद—

पृथ्वी पर अभी-अभी स्वर्ग से उतारी हुई !
कौन तुम न्यारी अरी ज्योति में सँवारी हुई !!

जिसको तुम चूम चली
वह निहाल हो गया
झूम-झूम ठूँठ भी
नया प्रवाल हो गया
कौन तुम इंद्रजाल

डाल-डाल जिससे गुलाल पिचकारी हुई!
कौन तुम न्यारी अरी ज्योति में सँवारी हुई!!

रंगिनी सुहाग-भरी
यौवन की आग-भरी
मुकुल-मुखी पिक-कंठी
रंग—राग—फाग—भरी

कौन तुम मनोजमयी
चुंबित जिससे दिगंत
सुखमा छाई अनंत

वृद्धा यह वसुधा फिर एकबार क्वाँरी हुई!
कौन तुम न्यारी अरी ज्योति में सँवारी हुई!!

दरभंगा
१८-३-४५

गाँव से लौटा हुआ

"तुम्हें गाँव से प्रीति गाँव की मैं न करूँगा निंदा
किंतु अजी कविजी! मेरा यह कमरा करो न गंदा!
जूते मोची को, कपड़े धोबी को पहले भेजो—
और ज़रा देखो ऐनक में अपना यह मुख चन्दा!!
क्या लाये सौगात गाँव से? अभी-अभी लौटे हो,
केवल तन से नहीं बुद्धि से भी लगते मोटे हो!"

"कर लो व्यंग्य किंतु मत समझो मुझे हो रहा क्लेश
मेरे मन के छन्द-बन्ध में शब्द हो रहे श्लेष
छवि की छिपी अहल्या कैसे निकलेगी पत्थर से—
यदि न राम की चरण-धूलि का होवे पुण्य-प्रवेश
इसीलिये यह धूल फर्श पर फूल-सदृश झड़ने दो
दो क्षण गंगा की कछार का समा जरा बँधने दो

बंद कोठरी के कोटर में लौटा अभी परिंदा
होने दो यदि मधु-मरंद से पिंजरा होता गंदा!
फूहड़तन अल्हड़ उदार मन कोरा ग्राम निवासी
कवि हूँ; कुछ विट नहीं छबीला मैं आरसी-विलासी

होकर अमृत-स्नात अमर-पुर मैं छूता-छूता लौटा हूँ
बुद्धिगुमानी! किंतु तुम्हारे हित मैं छूँछा ही लौटा हूँ!
क्या लोगे सौगात—बुद्धि की कोई जटिल समस्या?
किंतु बुद्धिवादिनी नहीं मृदुशस्या प्रकृति नमस्या

शरत्-प्रसन्न सरी में उठती लोल लहरियाँ जैसी—
जीवन पर मन का मनोज भी वैसा ही विजयैषी
सरल स्निध भावना जेठ की गंगा-सी छल-छल है
और बुद्धि की अति संसृति के लिए प्रचंड गरल है

लोगे यह सौगात गाँव की ओरे पंडितमानी?
एक हिलोर भावना की थोड़ा गंगा का पानी?
सघन लक्ष्मिवर्द्धन खेतों की काया धानी-धानी—
जहाँ सृष्टि के बचपन की जैसे भोली नादानी—

बलखाती रंगिनी तितिलियाँ,—लोगे वह इतराना?
महुए को मधु-महँक और कोयल का कुहुक तराना?
विस्तृत समतल भूमि-खंड में नभ का खोल झरोखा
बहती पुरवैया का लोगे एक अनोखा झोंका?

पग-पग मृदुल मसृण दूबों का कोमल सेज बिछाना
झुक-झुक झूम-झूम अरहर का नीलम-चँवर डुलाना
लोगे सघन आम-जामुन का फैला हुआ चँदोवा
जहाँ बरसता रिमझिम मंजरियों का चन्दन-चोवा

बोलो, लोगे खेत-रेत का यह सुखमा संसार ?
सेंत-मेंत में यह रत्नों का—यह छवि का बाजार ?
बेंच पुस्तकी ज्ञान लिया है मैंने मन का सौदा
कंकड़-पत्थर छोड़ लिया मिट्टी का एक घरौंदा !

शिशु की सरल भावना मैं आँखों में लिए चला हूँ
मैं पिक-सा जीवन-वसंत का सौरभ पिए चला हूँ
मैं न बुद्धि का दास भाव का भूखा मैं भगवान्
प्रिय मुझको वनबेरगाँव की शबरी का सम्मान"

दरभंगा
रामनवमी
१०-४-४६

पावस और कवि

हे पावस ! हे दाता महान !!
इस पृथ्वी का प्रत्येक पुलक विश्वम्भर तेरा मुक्तदान
हे पावस ! हे दाता महान !

जब प्रथम-प्रथम मंगल मृदंग
बज उठा शून्य के कोने में
जब धरा नहाने लगी गगन से-
झड़ते चाँदी - सोने में—

जब प्राची के सिंदूरी शीश - महल—
के खुले झरोखे से—
झाँकने लगी अलका छवि भरकर
विद्युत नयन सलोने में

सारी दुनिया चहचहा उठी
पत्ती - पत्ती लहलहा उठी
जब लगे बरसने स्वर्ग - सुमन
मोती के दोने-दोने में

तब समझ गया मैं दाता हे!
मेरी गरीबिनी पृथ्वी के—
कुछ देर नहीं अब धूल-कणों के
हीरक-मोती होने में

जब आया नव आषाढ़ मेदनी के तप के तर्पण समान
हे पावस हे दाता महान!

फिर सावन-भादों में मनोज की वंशी-सी फूँकने लगी—
अन्तर में सुधि की कसक चातकी पिया-पिया कूकने लगी
पिय के आलिंगन-सी मीठी जो पुरवैया घूमने लगी
तो अंग-अंग में वेपमान वसुधा विमुग्ध झूमने लगी
दाता! कैसी यह स्नेह-धार पत्थर भी जिससे पिघल उठे
फिर ठूँठ और झंखाड़ों को भी हरियाली चूमने लगी—

अंकुरित बेल कोंपल लाई
दन्तुरित केतकी मुसकाई

पल्लव-पल्लव में—मुकुल-मुकुल में नई सृष्टि फूलने लगी—

यह त्वरा-भरा रचना-विधान गायक! ये कितने गुणद गान
हे पावस! हे गायक महान!

पावस! तू पूर्ण-काम-कवि तूने हिला दिया यों जोरों से—
अवनी अम्बर को जगा दिया झंझा के प्रबल झंकोरों से

ये सफल गान जो रन्ध्र-रन्ध्र में पृथ्वी के रममाण हुए
जो फूट चले हैं निर्झर के रोरों से कंठ करोड़ों से!

जो आस किसान - निकेतों में
मधुमास बने धन - खेतों में
ये गान वही उठ रहे गाँव-खेरों से वन के मोरों से
जो बूँद-बूँद बरसे तेरे अन्तर के अमिय कटोरों से

हे विश्वम्भर ! हे चिर सुन्दर !
गायक ! तेरे ये गान अमर

आगे वसन्त जब आएगा
वैभव अनन्त छितराएगा
वह भी तेरे रस की कलशी से
अपना बाग सजाएगा

वह सृष्टि-फूल तू प्राण-मूल तुम दोनों अथ-इति के समान
हे पावस ! हे दाता महान !!

दरभंगा
१०-६-४६

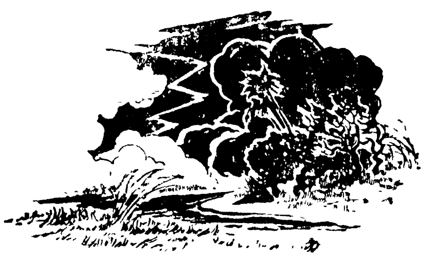

उनकी याद में

कौन हो तुम, पास भी हो दूर भी !
हिन्द के दिलदार आलमगीर भी मजदूर भी !!

तुम पुरुष-शार्दूल किंवा मेमना
कौन तुम हे विनत ! हे उन्नतमना !
हे अयाची ! हे चिरंतन याचना !
सिद्धि तुम या चिर तपस्या-साधना !

कौन तुम हो ? शक्ति से भरपूर भी मजबूर भी !!
कौन हो तुम ? पास भी हो दूर भी !!

ये अठत्तर बरस क्या मनुजत्व के ?
या अठत्तर मात्र पल देवत्व के !
काल जीता—या मरण के दुर्ग पर
ये अठत्तर ध्वज गड़े अमरत्व के !

तुम मृत्युंजय शूर भी तुम जीर्ण चकनाचूर भी
कौन हो तुम पास भी हो दूर भी !!

हे शरीरी ! दृष्टि-पथ पर तुम नहीं
पर मनोरथ कौन जिसमें तुम नहीं
छवि तुम्हारी प्राण-मन में रम रही
कौन कवि जिसके हृदय में तुम नहीं
नवल फूल गुलाब का जैसे कहीं
हो अँधेरे भवन में दीखे नहीं
किंतु उस आवास की प्रति साँस में-
सुरभि जिसकी रम रही हो सब कहीं

आँख से तुम दूर भी प्रभु ! आँख के तुम नूर भी
कौन हो तुम पास भी हो दूर भी !!

गाँधी-जयन्ती-सप्ताह
२६-९-४६
दरभंगा

दशहरे की छुट्टियाँ

छुट्टियाँ हुईं न हुईं कि पुरानी कसक उठी फिर सीने में
जानें क्या हो जाता मुझको आसिन के मधुर महीने में !

कल से पूजा के लिये एक पखवारे की छुट्टी होगी
है भरा लिफाफा ! —समझ गया मेरे घर की चिट्ठी होगी !
बज रहे पाँच, तुम क्या जानो, मेरे मन की घंटी बोली
लो करो बंद आफिस, तुम पिट्टू घिसने वालों की टोली !

कल से छुट्टी है यार ! एक पखवारे की फिर मनचाही
लो करो बन्द, सँभलेंगे फिर कुछ आज रहे लापरवाही !
कुछ याद नहीं, चाबी दराज में या कि रखी उस जीने में
जानें क्या हो जाता मुझको आसिन के मधुर महीने में !

यह साँझ शहर की अरे
आज मनुहार भरी लगती संध्या
यह रोज-रोज की पहिचानी
नीरस - सी मटमैली वंध्या

बदबू सड़ाँध से भरी तंग
गलियों में सिकुड़-सिकुड़ जाती
विद्युत प्रकाश से छू तुरंत
जो छुई - मुई-सी मुरझाती

यह साँझ शहर की अरे!
आज नव वधू सरीखी इठलाती
झीने - झीने घूँघट - पट के
भीतर-भीतर कुछ मुसकाती

या कहूँ इसे षोड़शी कि जो
यौवन निखार पर चढ़ी हुई
सम्मुख मयंक का मुकुर लिए
सोलह सिँगार हित खड़ी हुई

सिंदूरी शीशमहल की पश्चिम
ओर किए मुँह रही झाँक
पूरब के अंचल में
अँधियाली चिकुराली है पड़ी हुई

उफ् फिर अफीम की पिनक
सनक फिर वही पुरानी पहिचानी
घिस गई अँगुलियाँ किंतु
नहीं घिस सकी कल्पना दीवानी

यह चसक बड़ी बेताब नीगोड़ी
बचपन की यह नादानी
'काली किताब में दर्ज कि
मैं अहमक अयोग्य भावुकप्राणी'

कल रात पढ़ी विद्यापति की
शाश्वत नवीन गीतावलियाँ
वे 'ससन-परस खसु अंबर रे
देखल धनि देह'—मयी लड़ियाँ

मादक छुट्टियाँ दशहरे की
उन्मादक यह घर की चिट्ठी
लौ लगी कि यह जल उठी
चाक में पिसी हुई मेरी मिट्टी

खिल गया कमल मन का
तन तो डूबा चिर पंक-पसीने में
जाने क्या हो जाता मुझको
आसिन के मधुर महीने में!

प्रति वर्ष एक संघर्ष दशहरे की
छुट्टियाँ लिए आतीं
जीवन के पिछले ख्वाब
जवानी के सैलाब लिए आतीं

मन की उमंग कहती कि चाहिए
पूजा का उपहार नया
यह लो, वह लो—तुम रचो
एक पखवारे का संसार नया

तुम आज किरानी नहीं, अरे!
ये दिन आये मनमानी के—
सीधी कर कमर चलो जवान
बनकर रसिया दिलदार नया

मन सार्वभौम सम्राट्
मनोरथ की मलका नूरानी का
तन तीस रुपल्ली का गुलाम
चिर घिस्सू एक किरानी का

मनकी उमंग से किंतु कहाँ
मिलता कोई उपहार यहाँ
मनकी उमंग पर हँस देता
निर्लज्ज चोर-बाजार यहाँ

मन की उमंग से बज न सका
कोई मनुहार-सितार यहाँ
मन की उमंग से सज न सका
कोई पूजा-त्यौहार यहाँ

रुक जा मेरे मन की उमंग
रुक जा मेरी गंगा-तरंग—
मैं कर न सकूँगा पार एक
रुपये का है पतवार जहाँ !

अयि शक्तिदायिनी मा दुर्गे !
दे शक्ति कि मैं मन मार सकूँ
कुचले अरमानों से तेरी
पूजा-आरती उतार सकूँ

इन आठ महीनों से न एक
साड़ी जिसे नसीब हुई—
दे शक्ति कि मैं उस तपस्विनी
को खाली हाथ निहार सकूँ

मेरे इस भावुक मनको माँ,
तू लोहे की मशीन कर दे
इस उत्पाती उड़ते विहंग को
शाश्वत पंखहीन कर दे

या चिर अभाव की लूह-लपट
से सूखी जीवन-क्यारी में
माँ ! सुख-सुहाग की हरी-भरी
आशा-कोंपल नवीन धर दे

५-१०-४६

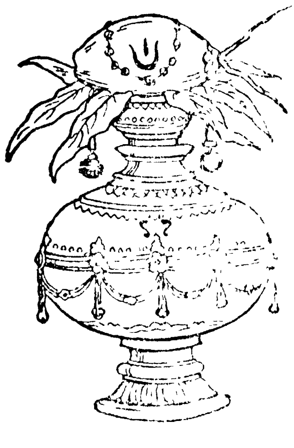

मुक्ति-मार्गी

अंबर ने दिया प्रकाश, समुंदर ने
उमंग का ज्वार दिया
उन्मुक्त पवन ने मुझे प्रगति के
लिये चिरंतन प्यार दिया
इति या कि इयत्ता नहीं जहाँ
उस अगम पंथ का मैं राही—
जीवन ने, अमर अभाव चरण ने
वामन पग-विस्तार लिया

मैं झेल चुका तूफान बवंडर के सर चढ़ मैं खेल चुका
मैं अगणित मरु कांतार कसाले नद-नाले हूँ हेल चुका
झंझा झड़ियों की बात कौन बिजली की तोप किरच वाले
मैं घन घमंड की रेल पेल को हँस-हँस कर हूँ रेल चुका
मैं बढ़ा किया कि असीम दिशाओं
ने मुझको विस्तार दिया
अंबर ने दिया प्रकाश समुंदर ने
उमंग का ज्वार दिया

मैं गिरा जभी तम गया काँप नभ से जैसे टूटा तारा
मैं उठा कि ज्यों-उदंत दिनकर ज्योतित करता दिगंत सारा
मेरे गिरने उठने दोनों की जग ने लिखी कहानी यों—
गिर कर उठने चलने का बल संचय करता यह बनजारा
उठ उठकर लिया भार गिर-गिर कर
मैंने श्रम-परिहार लिया
अंबर ने दिया प्रकाश समुंदर ने
उमंग का ज्वार दिया ॥

वे प्रलयमयी घड़ियाँ देखीं जिनमें दिनेश या इंदु नहीं
ऐसे भदेस देखे कि जहाँ कोई सर-सरिता-सिंधु नहीं
मेरे विश्वास हिमालय की सूखी न कभी गंगा परंतु—
मेरे प्राणों के अमर दीप में घटा नेह का विंदु नहीं
मैं हुआ जभी पथ-भ्रष्ट कि ध्रुवतारे
ने मुझे पुकार लिया
अंबर ने दिया प्रकाश समुंदर ने
उमंग का ज्वार दिया

यह भी देखा कि सामने सुख-छवि की अलका रंगिनी सजी
बज रही विपंची, स्नात रश्मि से प्रकृति-संगिनी धुली-मँजी
भर गया स्वप्न आँखों में विश्वामित्र सदृश मन गया डोल
जब विश्व-विजयिनी मदिर मनेका की काँची-किंकिणी बजी
पर सँभल गया जब मुक्ति-मोहिनी
ने इंगित सुकुमार दिया।
अंबर ने दिया प्रकाश समुंदर ने
उमंग का ज्वार दिया !!

सुख-दुख दोनों बंधन, दोनों से मैंने चिर विद्रोह किया
किस तरुण तपस्वी पथिक तरस्वी ने स्थावर को छोह किया
मेरा गंतव्य क्षितिज मुझको आगे, चिर आगे खींच रहा
मैं रुका कहीं यदि पल भर तो उस थल से कभी न मोह किया
'मिल गया प्राप्य मुझको'—ऐसा
मैंने न कभी उच्चार किया
अंबर ने दिया प्रकाश समुंदर ने
उमंग का ज्वार दिया

ओ प्राप्त ! अरे कीमत-बिसात क्या इस चूल्लू भर पानी की
यह युग-युगांत की प्यास अमर मेरी उत्तप्त जवानी की
मैं ऋषि अगस्त्य-सा सिंधु सोख लूँगा न बिंदु की चाह मुझे
उदयास्त बनेगा 'रजधानी' मेरी कामना-भवानी की
मेरे स्वप्नों ने निखिल विश्व में
मुझको मुक्त विहार दिया
अंबर ने दिया प्रकाश समुंदर ने
उमंग का ज्वार दिया

दरभंगा
१०-११-४६

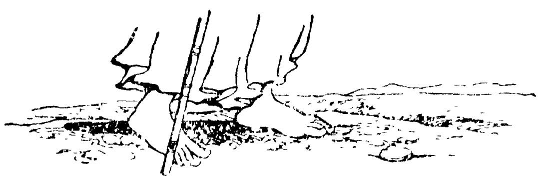

पूस-माघ

देखा न कभी बस सुना कि मोहक
नंदन वन का छवि सुहाग
ऐसा ही कुछ लगता मुझको
अपने गाँवों में पूस-माघ!

धरती का रस सूखा न जहाँ,
अन्तर में उमड़ रही वरुणा
गाँवों की ममता में डूबी
रहती रवि की अरुणा करुणा

उन्मुक्त हरित समतल प्रदेश
विस्तृत भू-खंड जहाँ उदार
छाया की भूखी आँखों में
सावन की छवि देते उतार

मीलों तक फैले हरे खेत
तरलायित झीलों की नाईं
किरणों की पाल लिये जिनमें
तिरती तरणी-सी पुरवाई

कोंपल के भीतर छिपी अभी
गेहूँ की, जौ की नव बाली
घूँघट सरकाये कौन, नहीं
अलमस्त हवा फागुन वाली

पर तारक-दल सी भौर-भौर
फूलने लगी यह मटर बेल
सौ-सौ तितली-किशोरियों की
है एक-एक पर रेल-पेल

कोरों पर खेतों की विलसी
अलसी शरमीली सुरमीली
गाँवों का कवि कहता इनको—
ये परियों की आँखें नीली

पर कालिदास है कौन कि
बरने सरसों की छवि सुघराई
श्यामल दुकूल पर धरा-सुन्दरी
की हल्दी की पियराई

मैंने देखो है पूस-माघ में
गाँवों की यह फुलवाड़ी
अपने पुरखों की युग-युग की
यह हरी-भरी चंदनबाड़ी

ये फूल किसी बाबू के कोट-
बटन में नहीं लगाने को

ये फूल देवता के वंदन में
शुचि आरति सजाने को

ये उष्ण वासना की शय्या को
शीतल करने, योग्य नहीं
ये हैं निर्माल्य गंध-लोभी
विषयी शरीर के भोग्य नहीं

ये नहीं तमाशा आँखों के,
आशाओं के शृंगार सखे!
ये फूल किसानों की अगणित
अभिलाषाओं के हार सखे!

घर-घर में, चौपालों में केवल
इनकी एक कहानी है
ये गेहूँ-सरसों-मटर – किसानों
के राजा हैं रानी हैं

धरती के बच्चों की मिट्टी
की दुनिया भी मस्तानी है
इस पूस-माघ में धरती माँ
बन गई मुदित ठकुरानी है

ये पूस-माघ के दिन, गाँवों
में रहो बंधु! यह शहर छोड़
दिन में है मीठी धूप नरम
रजनी में मीठी गरम कौड़

धरती का हरितासव पीकर
गायें-भैंसें रस-सानी हैं
हर प्रात सुनो मंगल-मृदंग
ध्वनि सी चल रही मथानी है

इस पूस-माघ में युग-युग की
दानवी गरीबी गई भूल
जब इंच-इंच में सोने की
कलियों सी सरसों गई फूल !

दरभंगा
१-१-१९४७

नोआखाली की विजय यात्रा

अंबर के देवो ! फिर मनुष्य की एक बार जय बोलो
फिर एक बार तप के प्रभाव से इन्द्रासन तुम डोलो
सुर-बालाओं ! मंगल गाओ नभ से प्रसून बरसाओ
मेघो ! तुम उनके पथ में छाया के पाँवड़े बिछाओ

जो चला घृणा के मरु में करुणा की रस-धार बहाने
जो चला शाप से मरे हुओं को जीवन-'मूरि' पिलाने
जो चला हद करतार बंग का बिगड़ा भाग बनाने
जो चला जाति-सरदार देश का उजड़ा बाग बसाने
मैत्री-ममता से जोड़-जोड़ टूटे दिल के टुकड़ों से--
जो चला राष्ट्र-मेमार कौम-किस्मत का कलश उठाने

उस वीर व्रती का यश गा मेरी गिरा ! सुहागिन होलो
अंबर के देवो ! फिर मनुष्य की एक बार जय बोलो
फिर रहा भगीरथ कण-कण की संहार-कालिमा धोने
दे रहा भगीरथ जन-जन को गंगा-जल दोने-दोने

फिर रही शांति की अमर शिखा हिंसा का तिमिर मिटाने
विश्वास-प्रीति के बुझे हुए दीपों में स्नेह चुलाने
ओ हिंदू-मुसलमान ! तुम दोनों जरा इसे पहिचानो
यह कौन कि जो तुम पर अपने को आया स्वयं लुटाने
ओ द्वेप-दग्ध बंगाल ! तुम्हारे तट अक्षय-वट छाया
ओ प्राण-हीन कंकाल ! तुम्हारे तट अक्षय-वट छाया

भगवान् पुकार रहा तुमको ओ बंगभूमि ! उर खोलो !
अंबर के देवो ! फिर मनुष्य की एक बार जय बोलो

दरभंगा
७-१-४७

कवि-प्रिया

अयि तू अमल कमल-दल शोभी
मेरे गीत-भ्रमर इस छवि के
युग-युगान्त के लोभी
अयि तू अमल कमल-दल शोभी

पल-पल निमिष-निमिष पुकारती
तू मुझको मृगनैनी
और गीत बनती जाती
मेरी पुलकित बेचैनी !

प्रथम-प्रथम शैशव के
मधु-सपनों में तुझको देखा
तब से प्रति प्रभात में देखी
तेरी चितवन-रेखा

युग से देख रहा न किंतु
आँखों की प्यास टली है
जब देखो तो अनघ्रात तू
केवल एक एक कली है

मेरे प्राण-भ्रमर अवनी—
अंबर में डोल चुके हैं
कितने मधु-गंधी मुखड़ों की
घूँघट खोल चुके हैं

पर मरंद वह कहाँ कि
जिससे व्यथा बंद हो जाए
और जिसे पीते जीवन की
कथा छंद हो जाए

परम धाम विश्राम
प्राण-पिक की पुष्पित अमराई
तू मेरे जीवन-निदाघ पर
घटा उमड़ ज्यों आई

शब्द सुन्दरी गायित्री तू
साम-पिया रसवंती
तू नटवर की वेणु-विकंपित
रागिनि जैजैवंती

युगपत् सूर्य चंद्र नखतों की
शत-शत ज्योतिर्धारा
तू विराट की सतत वाहिनी
करुणा तारा-हारा

तू चिर सुंदर की विलासिनी
काम-रूपिणी माया
शुभे ! मर्त्य-मरु में रंजन तू
नंदन-वन की छाया

स्नेह-सरी अयि अमृत-निर्झरी
धन्य हुआ मैं जीकर
मेरे क्षण हो रहे सनातन
पीकर तेरे शीकर

जबतक रहे प्रकाश नयन में
केवल तुझे निहारूँ
जबतक रहे कंठ में वाणी
केवल तुझे पुकारूँ

अंत प्रलय की गोधूली में गा-गा जब थक जाऊँ
तेरी छवि के अंधकार-अंचल में छिप सो जाऊँ

दरभंगा
१-६-१९४७

नवीन रश्मियाँ

चलीं प्रकाश-शैल-शृंग से नवीन रश्मियाँ
स्वदेश के सुहाग में सनी नवीन रश्मियाँ
चलीं कि व्योम से अनंत ज्योति हरहरा उठी
कि छू जिसे दिगंत में घटा भी मुसकिरा उठी
अजस्र तेज-तीर सी कपाल की लकीर-सी—
चलीं कि अंधकार की कतार थरथरा उठी—

स्वतंत्र देश की नवीन आरती उतारती
जमीन-आसमान को सुवर्ण से सँवारती—
समर्थ हिंद-देश पर समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ—
सुरेश - संपदा अशेष बार-बार वारती
चलीं सुहाग की विभूति की प्रभूत रश्मियाँ—

असंख्य चंद्र-सूर्य की विभा-विभूति तोलती
असंख्य वाद्य-तूर्य्य के निनाद-रंध्र खोलती
असंख्य प्राण के विमुक्त गान के प्रवाह में
नवीन रंग की उमंग की तरंग घोलती
चलीं स्वदेश अंग-अंग से नवीन रश्मियाँ

खुलीं धरा ससागरा खुले कपाट व्योम के
खुले समस्त हाट-बाट रूस और रोम के
खुलीं निसर्ग और स्वर्ग की विहार-वीथियाँ—
कि उड़ चले विहंग ये नए प्रबुद्ध कौम के
चलीं प्रसार-पंख खोल के नवीन रश्मियाँ

चलीं कि वृंत-वृंत में वसंत झूलने लगा
मनुष्य भाग्यवृक्ष स्वर्ण फूल फूलने लगा
त्रिशूल कौन आज जो न फूल-सा उदार है
बबूल भी कपाल का कुअंक भूलने लगा
चलीं नवीन भाग्य रेख की नवीन पंक्तियाँ

चलीं लिये पुनीत स्वस्ति-कामना त्रिलोक की
पुनीत बोधि-सत्व भूत भावना 'अशोक' की
सुदीर्घ कल्प-कल्प की अटूट सत्य-साधना—
लिये अखंड आर्यभूमि तापसी विशोक की—
चलीं नवीन अर्चना लिए नवीन रश्मियाँ

'उठी ध्वजा निहार लो! मनोज्ञ सौर-चक्रिणी
हिमाद्रि शैल से असीम सप्तसिंधु स्पर्शिनी
उठो स्वराष्ट्र-केतु की करो सगर्व वंदना—
उड़ी सुदर्शिनी स्वदेश में पियूषवर्षिणी
चली स्वतंत्र देश की युगांत-कांत रश्मियाँ

दरभंगा
७-८-४७

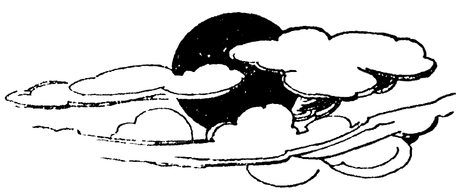

शरद कौमुदी—[कातिक की चाँदनी]

फिर पुलक भरी यह शरद्-शर्वरी
गगनांगन में आई है।

जब वर्षा से धुल-धुल वसुंधरा
विरज विशद हो जाती है
तब रीझ-रीझ इसकी छवि पर
यह चंद्र-मुखी मुसकाती है

यह देवपुरी की साम्राज्ञी
झाँकी जो गगन झरोखे से
तो चूने लगे प्रसून दृगंचल
से टहटहे अनोखे से

तो घिरी एक रेशमी-घटा
अग-जग के कोने-कोने में
तो झड़ी एक कलधौत-छटा
विटपों के दोने-दोने में

लो, रश्मि-पाल की रजत तरी
स्वर्गंगा में घूमने लगी
यह चपल हंसिनी लहर-लहर
पर फहर-फहर झूमने लगी
डूबे जल-थल के ओर-छोर
आलोक तिमिर डूबे दोनों
यह एक स्वप्न की धूप-छाँह
क्षिति अंबर को चूमने लगी

ले रही निभृत छाया-पथ में यह
सुन्दरता अंगड़ाई है।
फिर पुलक-भरी यह शरद् शर्वरी
गगनांगन में आई है॥

अमरों की माँ यह करुण-
वेदिनी स्नेह-सुधा की रानी है
ये आँखें नहीं मेनका की
वारुणी-भरी मस्तानी है

छाती से दुग्ध-धार, नयनों से
फुट रही अमृत कुल्या
यह त्रिभुवन की कल्याण
कामना में भींगी चिर मांगल्या

कपूर-गौर चंपक उँगली जब
फिरती कूल-किनारों पर
तब सिहर-सिहर उठती
वसुंधरा इन दुलार-पुचकारों पर

नीड़ों में सोए विहग-बाल
के रोमिल कोमल गालों को
यह चूम-चूम फिर झूम-झूम
सिहराती ताल-तमालों को !

कोई न अकेला खग कोई
ऐसी न विजन की डाली है
जो इस वात्सल्यमयी माँ के
शीतल सनेह से खाली है !

सोए जो बंद घरों में मानव
के शिशु उन्हें खिड़कियों से
यह देखे बिना न रह सकती
तिरछी सी जरा कनखियों से

अंचल में इसके लिपट विश्व
सो रहा आज निश्चिंत अमन
इस पावनता को परस हुआ
उज्ज्वल शीतल मानव का मन

बज रही प्रीति बाँसुरी कलह-
कोलाहल के स्वर बंद हुए
लगता समस्त दुख खो शिशु-से
मानव निश्छल निर्द्वन्द्व हुए

करुणामयि ! इन स्वर्गीय चरणों
में नवयुव का निर्माण करो
इस सुन्दर रजत-निशा से भी
सुन्दरतर स्वर्ण-विहान करो

धरती पर उतरी बड़े भाग्य से
यह प्रभु की परिछाईं है।
फिर पुलक भरी यह शरद्-शर्वरी
गगनांगन में आई है॥

एकौना
१-११-४७

गीत

प्रिय ! भला हम सो सकेंगे इस नशीली रात में
स्वप्न-वन से नींद-विहगी आ सके कैसे कहो—
शिथिल भींगे पंख से इस अमिय की बरसात में
प्रिय ! भला हम सो सकेंगे इस नशीली रात में

गंध लुब्ध मलिन्द से निर्बंध उड़ना चाहते—
प्राण नभ के कुंज से क्या आज मुड़ना चाहते ?
पी रहे मकरंद-मधु झड़ते धवल जलजात में
प्रिय ! भला हम सो सकेंगे इस नशीली रात में ?

शांत-कोलाहल धरा एकांत प्रिय के अंक में—
सो रही नवनीत कोमल कौमुदी पर्य्यंक में
और खोई जा रही नभ के हृदय की बात में—
प्रिय ! भला हम सो सकेंगे इस नशीली रात में ?

मर्त्य में अमरत्व की
छाया लिए चितरंजिनी
टिक गई दो क्षण यहाँ
यह काल-चपल विहंगिनी
प्रिय ! मना लो पर्व यह
पारस छुला लो गात में
प्रिय ! भला हम सो सकेंगे
इस नशीली रात में ?

एकौना
२-११-४७

एक क्षण कुछ कम नहीं

एक क्षण कुछ कम नहीं
याद तो जीती रहेगी—क्या हुआ कल हम नहीं !
एक क्षण पल्लव-अधर को चूम लें
एक क्षण रवि-रश्मियों में झूम लें
एक क्षण तृण-नीलिमा में इंदु से—
विश्व के पुलकित नयन में घूम लें
अलम्—यदि हम एक क्षण मोती बनें, शबनम नहीं ॥
एक क्षण कुछ कम नहीं !

एक क्षण छवि का मलिन मुख धो सके
एक क्षण कवि का नयन-सुख हो सके
एक क्षण गीले हमारे गान से—
और की क्या बात ! पवि भी रो सके
एक क्षण हम पा सके क्या श्रेय-प्रेय परम नहीं ?
एक क्षण कुछ कम नहीं !

एक नन्हीं बूँद के लघु गात में
स्निग्ध उर की एक छोटी बात में

हो गई केंद्रित सनातन साधना—
एक क्षण की इस मृदुल सौगात में
तीस दिन की साधना की पूर्त्ति क्या पूनम नहीं ?
एक क्षण कुछ कम नहीं !

देव ! सागर की तुम्हारी प्यास है
और कुछ बूँदें हमारे पास हैं
लो हमें—निःशेष हम देंगे तुम्हें—
एक तिनके से टँगी जो साँस है
एक लघु जीवन-समर्पण-साध तो कुछ कम नहीं ?
एक क्षण कुछ कम नहीं !

एकौना
३-११-४७

हे मेरे प्रिय देश

नवयुग तुमसे माँग रहा है नवलरूप नववेश
नवयुग तुमसे माँग रहा है नवल हर्ष नव क्लेश
हे मेरे प्रिय देश !!

उदयाचल से झाँक रहा जो नवयुग का दिनमान
अरुणचूड़ ! वह माँग रहा तुमसे जागृति के गान
हवा माँगती केतु तिरंगा दिग्वधुएँ जय-गूँज
माँग रहा आकाश तुम्हारे पंखिल पुष्पक-पुंज
क्षुधित विश्व यह माँग रहा है कर्म-योग का दान
सप्त-सिंधु माँगते तुम्हारे रत्न-भरित जलयान
ओ समर्थ-सम्पन्न ! तुम्हारी संतति विकल विपन्न
लाख-लाख जन माँग रहे हैं आज वस्त्र औ' अन्न
धरती माँग रही मांसल ऊर्जस्वित सुखी किसान
जो निज श्रम से करे रेत को नंदन-विपिन समान
मिट्टी माँग रही है तुमसे नव मूर्ति-निर्माण
मानव माँग रहे हैं तुमसे नवल स्फूर्ति नव प्राण
ओ निर्बंध ! तुम्हारे पद-चिह्नों से पथ-निर्देश—
माँग रही सभ्यता शांति-सुख का नवीन संदेश
हे मेरे प्रिय देश !!

नवयुग माँग रहा तुमसे नव संस्कृति नव आदर्श
नवयुग माँग रहा नवीन साहित्य विचार-विमर्श
तोड़ रुग्ण रूढ़ियाँ-बेड़ियाँ छोड़ अंध विश्वास
नव-युग माँग रहा है तुमसे नूतन आत्म-विकास
जो धो दे संहार-कालिमा ईर्ष्या-घृणा विनाश
नव-युग माँग रहा गंगाजल-सा पवित्र इतिहास
नव-युग खोल रत्न-गर्भा पृथ्वी तारों का देश
नव-युग खोल रहस्य-लोक के ज्योतिर्द्वार अशेष
वर्द्धमान ! माँगता तुम्हारा मंगल विजय-प्रवेश
हे मेरे प्रिय देश !!!

एकौना
४-११-४७

आदमी

कौन है तू भूल मत रे आदमी !
एक मुट्ठी धूल का क्या मोल है ?
किंतु अंतर में उसी के रूप जो
और रस का एक शीतल कूप जो
वह उबल जाये जरा तो धूल वह—
फूल उठती निखिल वन की भूप हो
कौन-सी छवि फूल-सी अनमोल है ?
एक मुट्ठी धूल का क्या मोल है ?
धूल से तू फूल बन रे आदमी !!
कौन है तू भूल मत रे आदमी !!

एक पत्ते में छिपाई आग तू—
तू अगर चाहे—धरा का नूर तू
शौर्य्य का, सौन्दर्य का, शशि-सूर तू
फिर नहीं तो एक पत्ते के तले—
राख की है एक केवल घूर तू

एक पत्ता रोक ले जब आग को
एक तिनका रोक ले जब नाग को
राख केवल तू-नहीं, तू अग्नि कण
कोस मत रे आदमी ! तव भाग्य को
चल कुचलते शूल को रे आदमी !
कौन है तू भूल मत रे आदमी !!

आदमी ! बेरोक तू निर्बंध तू
एक अपना आप मुक्ति निबंध तू
एक प्रभु तू निखिल विश्व-विभूति का
आदमी ! तुझको नहीं कोई कमी
किंतु रो-रो कह रहा इतिहास यह —
आदमी का शत्रु केवल आदमी !!

एकौना
७-११-४७

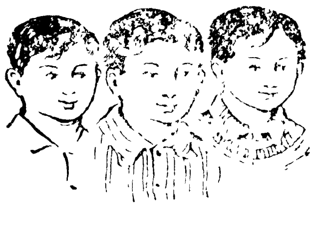

कातिक की साँझ

कातिक की संध्या खेतों की मेड़ से
घूम रहा मैं टेढ़ी-मेढ़ी चाल से—
बचकर बन ढेलों से जो हल-फाल से
उखड़-उखड़ कर उछल-उछल कर
आ राहों पर फैल गये हैं भेड़ से—
कातिक की संध्या खेतों की मेड़ से—

जुते हुए खेतों के इस भू-भाग में
छनी हुई मिट्टी, न एक खर-पात है
जैसे कोई विकृत-कलेवर-रमणी सद्यःस्नात है
निराभरण तन, हृदय हरण बन—
अंग-अंग जिसके निज मौलिक रंग में
खिले हुए ज्यों सरसिज विमल तड़ाग में
जुते हुए खेतों के इस भू-भाग में
साँझ हुई न हुई कि उमंग-उछाह में

घर जाने को बैल रहे हुंकार हैं
और किसानों के कण्ठों से उमड़ी एक पुकार है
"हरे भरे हों, हरे भरे हों--
ये श्री महादेव माता-गंगा के खेत-बधार हैं,"
खुली टाँड़, घर चले खेतिहर शिथिल-चरण
जो बैलों को खिला-पिला निकले तारों की छाँह में
साँझ हुई न हुई कि उमंग-उछाह में!

देख रहा—मेरे ही गवई गाँव के
घूरनसिंह आ रहे थके बेहाल-से

टप-टप चूते स्वेद-बिन्दु जिनके कपाल से, गाल से—
कातिक की पछुआ जब चलती सनन् सनन्!
बचे हुए बीजों की गठरी ले सिरपर-
यह देखो! 'आदमी' नाम की ठठरी है चलती भू पर
पके हुए हैं बाल खुरदरे शीश पर
वयस अभी क्या? तीस या कि चालीस पर
झाँवे-सा झाँवर शरीर फूहड़ मटमैला
घूरन सिंह भी थे जवान गोरांग छबीले छैला!
किन्तु जीस्त ने दिया इन्हें क्या? परती-भरी गिरस्ती
बस दो गज का एक अँगोछा, छोटी एक लंगोटी

और फटे जूते चमरौधे पाँव के
घूरन सिंह मेरे ही गँवई गाँव के

मेरा मन उलझा इस दुखद प्रसंग में
घूरनसिंह के खेत इन्हें क्या दे रहे?
जाहिर है—ये बड़े कष्ट से जीवन-नैया खे रहे
कुशल बीजप्रद पिता सृष्टि धन-धान्य के

ये किसान नाचीज हुए क्यों जा रहे ?
ओ बोने वाले सुहाग के बाग के !
अरे तुम्हारे बीज हुए क्या जा रहे ?
हे दाता ! क्यों मीन पिपासित शीतल गंग तरंग में
मेरा मन उलझा इस दुखद प्रसंग में
दो दिन में ये बीज बनेंगे फूट के—
मिट्टी के घन अंधकार की दीपक-लौ
वसुन्धरा के कण्ठ हार-से गेहूँ-जौ
दिग्वधुओं के कर्णफूल, मारुत की वीणा
दो दिन में ये बीज बनेंगे—
इन खेतों की स्वर्ण-अँगूठी में नीलमी नगीना
यह कवि की भावना—किन्तु घूरनसिंह भी बरसों से
यही सोचते रहे कि दो दिन में गेहूँ-सरसों से
जब खलिहान भरेंगे और भरेंगे रुपये पैसे
ऋण न रहेंगे साहुकार के, दिन न रहेंगे ऐसे—
किन्तु हाय ! प्रतिवर्ष जेठ में
जाने कौन कुचक्र नियति का—
ले जाता इन खेतों का धन लूट के
फल जाते जब बीज सभी ये फूट के !
इस दयनीय दशा का कौन निदान है ?
युग-युग से यह विषम परिस्थिति आ रही
भारत के किसान की दुनिया—
मध्य युगों में थी जैसी बिलकुल वैसी ही आ रही
प्रजातंत्र है, नये यंत्र हैं, नये मंत्र हैं
किन्तु कहाँ इन गाँवों में कोई नूतनता

ऋण-लगान से ग्रस्त-पस्त है—
अंध-पुरानपंथ-गामी गाँवों की भोली जनता !
सोच रहा मैं इन घूरनसिंह के लिये
अरे, कहाँ गाँधीजी या भगवान हैं ?
इस दयनीय दशा का कौन निदान है ?

एकौना
१४-११-४७

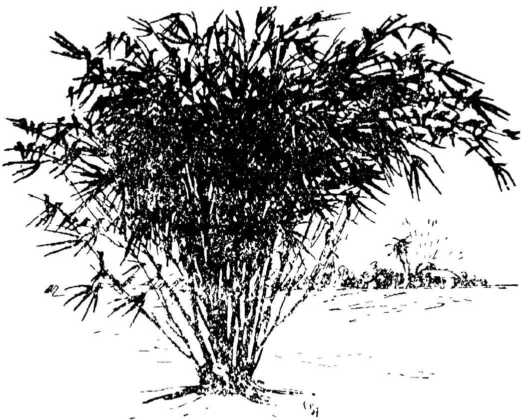

हाय ! यह क्या हो गया भगवान !

हाय ! यह क्या हो गया भगवान !
यह अचानक कौन वज्र समान
कह गया कि समस्त भारतवर्ष—
हो गया है एक बृहत् मसान
हाय ! यह क्या हो गया भगवान !

आसमाँ टूटा कि अशनि-निपात
या हिमालय का हुआ भू पात
या कि यह भूकंप भीषण क्रूर
कर गया यह देश चकनाचूर
हिंद यह बेजान-सा सुनसान
हाय ! यह क्या हो गया भगवान !

सत्य पर यह चल गई बन्दूक
धर्म का उर हो गया दो टूक
देश का कोमल कलेजा चीर
पीस कर नव राष्ट्र की तकदीर
पाप की पिस्तौल हो अब शांत
हो गया करुणा-क्षमा का अंत

शान्ति के उर विँध गया यह तीर
मिट गई परमार्थ की तस्वीर
बुझ गया युग-सभ्यता का नूर
धुल गया युग-सिद्धि का सिंदूर
हिन्द क्या सारे जहाँ की शान
आर्य-संस्कृति का कलश छविमान
गिर गया रे देश का अभिमान
हाय ! यह क्या हो गया भगवान !

मिट सकेगी क्या कभी यह हूक ?
अश्रु आँखों के सकेंगे सूख !
पाप की पिस्तौल का यह दाग
हिन्द की छाती लगी यह आग
बुझ सकेगी क्या कभी यह ज्वाल
यह कलंक कठोर कसक कराल
रो अभागे देश की संतान !
रो अभागे राष्ट्र के अभिमान !
रो अरे अभिशप्त भारतवर्ष !
आज तेरा उठ गया वरदान !
आज तेरा मर गया भगवान !

समस्तीपुर
३१-१-४८

उद्योग-पर्व

मुक्त करो द्वार हे !
ओ भविष्य मंगलमय ज्योति-युग उदार हे !
मुक्त करो द्वार हे !

उदयाचल - अरुण - अंक
बाल - भानु - सा विशंक
उत्थित ले विजय शंख
किरण-बाण रुक्म-पुंख
तिमिर-दुर्ग तोड़ चला मानव-परिवार हे !
मुक्त करो द्वार हे !!

जन-गण में स्वप्न-दीप्ति
दीपित नव सृजनशक्ति
समतल को चूम चली
ऊँच-नीच भेद-भित्ति
अंध-रूढ़ियाँ समस्त आज तार-तार हे !
मुक्त करो द्वार हे !!

मानव का भाग्य - इन्दु
पूर्ण आज--लोक सिंधु—
उमड़ - घुमड़ नाच रहा
व्यक्ति - व्यक्ति विन्दु - विन्दु
जीवन में उठा आज पूनम का ज्वार हे!
मुक्त करो द्वार हे!!

नवयुग के हे मनुष्य
हे अनन्त हे भविष्य
तुम न दीन तुम न दास
तुम मनुष्य तुम नमस्य
तुम नवी समाज के नवीन कर्णधार हे!
मुक्त करो द्वार हे!!

समस्तीपुर
२०-५-४८

कीर्ति

शुभे ! बचा लो आर्य-वंश को कलि-कल्मष-माया से
शुभे ! छुपा लो परमहंस को महानाश-छाया से

स्वर्णपात्र में लिए वारुणी भाव भरी दीवानी
इस नगरी की गली-गली में ठगनी एक पुरानी
कंचन और कामिनी के काँटे पर तौल रही है—
जो पौरुष के पुंज मनुज का जीवन और जवानी
कुछ विलास की तृषित सेज को अपना अमृत पिला के
कर्म-न्याय के बीहड़ वन में कुछ निज ज्योति गँवा के
सूखी लकड़ी बने मरण की भट्ठी में ईंधन से
चले शून्य में पृथ्वी पर मुट्ठी भर राख उड़ा के

शुभे ! बचा लो गरलमयी इस ठगनी की माया से
शुभे ! छुपा लो परमहंस को महानाश-छाया से

पली जहाँ परमार्थ-अंक में भारत प्रिये ! तुम्हारा
भूल न जाना यहीं तुम्हारी आँखों का ध्रुवतारा
यहीं यशोधन एक तपी ने अमरों की नगरी से—
भूल न जाना गंगा की लहरों पर तुम्हें उतारा

महानाश के गरल-कुंभ पर मधु के ये कुछ छींटे
नोच-खसोट किया करते जिनके हित मानव चींटे
कैसी यह छलना बलीयसी—अरे लोभ से अंधे
जिन्हें समझते तुम चिंतामणि वे हैं पत्थर–ईंटे

तुम त्रिकाल के महासिन्धु पर फैली जभी गगन-सी
जिसके अंतराल में सदियाँ उर्मिल आवर्त्तन-सी

तभी हमींने काल जयी पौरुष की अमर कथाएँ —
लिखी तुम्हारे वक्षस्थल पर सूर्य-सोम उड़गण-सी
जीवन-पथ पर चला हमारा संस्कृति रथ जब बाँका
सदियों के विशाल प्रांतर से जिसे धर्म ने हाँका
भूल न जाना देवि ! उन्हीं लीकों को पकड़ चली तुम,
और तुम्हारा गौरव जग ने उसी चिह्न पर आँका
अरी मानिनी ! कौन वस्तु वह कौन रत्न वह प्यारा
जिसे न हमने दिया तुम्हें बस पाकर एक इशारा

और कहें क्या—जीतेजी हड्डियाँ हमीने दे दीं
देवों के कातर स्वर में जब तुमने हमें पुकारा

और आज भी देवि ! हमारा एक तपी मृत्युंजय
हँस-हँस अपना खून दे गया तपःपूत ज्योतिर्मय
इसीलिए कि समस्त विश्व में देवि ! तुम्हारे स्वर में
एक बार फिर उठे कीर्ति-कामी भारत की जय-जय

और आज भी देवि ! हमारे अगणित कर्म-तपस्वी
अपने को निःशेष दे रहे लोक-हिताय मनस्वी
भूल न जाना देवि ! आज भी छल-प्रपंच के युग में
सत्य-प्रेम के पथ चलती यह ऋषि-संतान यशस्वी

शुभे ! हिंद पर रहे तुम्हारे वरद करों की छाया
और कभी छू सके न हमको स्वार्थ-आसुरी माया
अचल धवल महिमा-मंडित हिमगिरि-सी खड़ी रहो तुम
और सदा निर्मल गंगा-सी रहे हमारी काया

समस्तीपुर
१०-७-४८

मिट्टी की महिमा

"यह अनित्य शरीर मिट्टी का बना
व्यर्थ है इसके लिए परि - वेदना
भानु-सा वह मनुज-ज्योति अखंड है-
कीर्ति-गगन-वितान जिसका है तना"

ज्ञानियों की उक्ति यह दुख-शोक में
प्राणियों को धैर्य्य - संबल दे रही
किन्तु मिट्टी के लिए भगवान हे!
मनुज की ममता सदा से रो रही

मोह मिट्टी का भले अज्ञान हो
किन्तु लौ जब उतर आती दीप में
रूप मिलता तब अदृश्य अरूप को—
तरल मोती जब समाता सीप में

एक ज्योति अभी बुझी संसार से
एक मोती उड़ गया रे सीप से
और आज असंख्य प्राणों से विकल-
उठ रही चीत्कार जंबू - द्वीप से

किन्तु हम रोते नहीं उस ज्योति-हित
ज्योति तो अव्यय अनश्वर शाश्वती
रो रहे हम-हाय ! उस मनुजेंद्र की—
अब न वह काया रही सेवाव्रती

अब न वे छायामयी वरदायिनी
दो भुजाएँ कल्प-तरु की डाल-सी
वे उँगलियाँ दग्ध मानव शीश पर
तापहर श्रीखंड मृदुल मृणाल - सी

और वह मुसकान ! हे भगवान् ! फिर-
क्या कभी इस लोक में संभाव्य है
वह दुआ की भीख ! जिसकी याद ही
बन रही इस शोक में भी काव्य है

हाय वह मुसकान !—जैसे फुलझड़ी
प्रेम-करुणा की क्षमा की निर्झरी !
द्वेष-हिंसा की अमा में प्यार की—
वह शिखा निष्कंप तम हरती फिरी

रो रहे हम उस कलेवर के लिए
फूल-सा जो और वज्र समान भी
हाय मिट्टी वह मरण की वस्तु थी—
किन्तु वह इंसान थी भगवान भी !

रो रहे हम उस मरण की वस्तु हित
जो कि मिट्टी की बनी तस्वीर थी
एक मुट्ठी राख भर वह बच रही
जो कभी इस राष्ट्र की तकदीर थी

अमर गाँधीवाद है—हम जानते
अमर गाँधी की तपस्या—साधना
रो रहे हम किंतु बापू के लिए
हाय मिट्टी के लिए यह वेदना !

समस्तीपुर
२६-७-४८

देश-माता

प्यार लो जुहार लो
कोटि - कोटि पुत्रों की माता ! जयकार लो
प्यार लो जुहार लो

युग - युग का निविड़ तिमिर
खोल अंध सुप्त शिविर
विजय-ज्योति-तिलक लिए—
उदित आज मुक्ति - मिहिर

जन्म भूमि ! नवयुग का कनक किरण - हार लो
प्यार लो जुहार लो ! !

शिंजित कर रंध्र - रंध्र
गाओ घन ! मंद्र - मंद्र
अंबर में दीप जला—
लाओ ओ सूर्य्य - चन्द्र !

वीर भूमि भारत की आरती उतार लो
प्यार लो जुहार लो !!

सिंहासन शैलराट्
राज्य - छत्र नभ विराट्
शस्य पूर्ण श्वेत - नील—
खचित भूमि रत्न - पाट

वीर बाहुओं का अयि जननि ! अलंकार लो
प्यार लो जुहार लो !!

राष्ट्र - पर्व आज प्राण !
कर लो यह प्रण महान्
राष्ट्र की ध्वजा निमित्त—
देंगे हम शीशदान

तीस कोटि संतति का यौवन - उपहार लो
जननि ! नमस्कार लो !!

समस्तीपुर
२८-७-४८

पूस की साँझ

नलिन-नयन पर तुहिन-विन्दु माँ की ममता में भींगी
दूध - पूत से भरी गोद अपने में आप पसीजी

नवल कुंद - घनसार - वरण आभरण हीन काया में-
जरा - जनित वेपथु - सिमटी अपनी अंचल छाया में

अंग - अंग पेशल पिशंग अलकावलि भूरी - भूरी
खिंची माँग पर हल्की - सी रेखा - सुहाग सिंदूरी

बहु संतानवती बहु चिता-भार - भंगुरा झीनी
देखो, यह आई सितांबरा शिशिर-साँझ रस भीनी

बंद दिवस का सौध-खोल धूमिल गोधूलि, झरोखा—
हेर रही बूढ़ी माँ निज संतति - संसार अनोखा

टेर रही नीरव वाणी में—बंद करो श्रम आओ—
कर्म क्लान्त मेरे शिशुओ श्रम बंद करो घर आओ,

चले खेत से विरल बसन मजदूर किसान थके से
हरे - भरे खेतों के हरितासव पी मुग्ध छके - से

उर - उर में यह सुधि की लौ उकसाती संध्या - भैया

लघु साँसों की चपल लहर से सिहर उठा पल्लववन
विहगों के वंशी - रव से शिंजित नीड़ों का मधुवन

नरम - नरम बाँसों की गरम टहनियों के झूले में—
शिथिल हुई जाती कोमल रोमिल पंखों की फड़कन

दो क्षण संध्या का कल-कल फिर स्तब्ध मौन सचराचर
ऊँघ रहा किशलय-शय्या पर निखिल विपिन का मर्मर

देखो सबको पिला रही संध्या पीयूष - उनींदी
नलिन नयन पर तुहिन विंदु माँ के सनेह में भींगी

ेपुर
२-४८

कल्प-वृक्ष

मिट्टी बोल रही स्वदेश की—"ओ मेरे वनमाली !
जय हो तेरी - दिया मुझे यह कल्प-वृक्ष छविशाली !

मेरे रोम - रोम में उमड़ा रस का उर्मिल सागर
मालव आज बना मेरा मरु, जय हो मेरे नागर !

नई सृष्टि का नव प्ररोह इकतीस कोटि का प्यारा
इसे समर्पित जीवन - यौवन, यह मेरा ध्रुवतारा

इसे समर्पित यमुना की गंगा की अमृत - धारा
इसे समर्पित कृष्णा - कावेरी का कूल - किनारा

विंध्या की तलहटी वंग की भू उर्वरा उदारा
इसे समर्पित आर्य्य - भूमि का यह अरुणांचल सारा

जय हो उस मानव - महीप की जिसने यह तरु सिरजा
द्वीप - द्वीप हो रही आज जिसकी वंदना - सपर्य्या

सिद्ध पीठ इस तपोभूमि में यह हरिचन्दन आया
युग - युगांत के आतपांत में सजल श्याम घन छाया

मिट्टी बोल रही स्वदेश की भूल न जाना माली
भूल न जाना इस तरु में जन-जीवन की हरियाली

कोटि-कोटि बलिदानों का सावन इस पर बरसा है
कोटि-कोटि घट के अरुणामृत से यह तरु सरसा है!

त्याग-तपस्या के संगम-तट पर यह तरु लहराया
निखिल लोक-जीवन इससे अब माँग रहा है छाया

किन्तु देखती हूँ कि अभी भी दुःख-दारिद्र्य-बगूला
एक ओर—दूसरी ओर यह पारिजात है फूला!

महाभाग कुछ इसनिधि के बन गए आप अधिकारी
कुछ कुबेर बन गए किन्तु जनता रह गई भिखारी

रेल-पेल मच गई देश-भक्तों का उमड़ा मेला
देश-भक्ति का दाम गाँठने की पहुँची जो बेला

नव प्रवाल-वन तोड़ किसी ने बंदनवार सजाया
नव डालियाँ मरोड़ किसी ने तोरण-द्वार बनाया

तप की कली किसी बाबू के 'बटन-होल' में छाई
और किसी की टेबुल पर पुंश्चली बनी मुसकाई

बना हाथ की छड़ी राष्ट्र का जन-रंजन हरिचंदन
कल्प-वृक्ष बन गया देखती हूँ चूल्हे का ईंधन

मिट्टी बोल रही स्वदेश की—चेत, चेत ओ माली!
लूट न ले कुछ व्यक्ति कहीं जन-जीवन की हरियाली

प्राणमूल में इस तरु के उमड़ा जो रस का सागर
भरते उसको एक नहीं पैंतीस कोटि के गागर

इसलिये घट-घट उसके फल-फूलों का अधिकारी
व्यक्ति नहीं सारे समाज के हित यह चंदन बाड़ी

याद रहे जबतक इसकी छाया छतनार न होगी
तब तक इस नवजात राष्ट्र की नैया पार न होगी

समस्तीपुर
३१-१२-४८

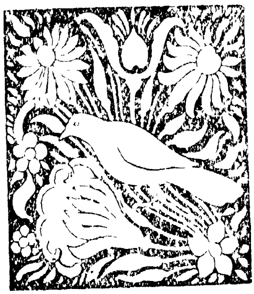

सरदार श्री की याद में

सो गया वह देश का मेमार
उच्च जितनी राष्ट्र की तकदीर की दीवार
उच्च उतना ही रहा वह राष्ट्र का मेमार
सो गया वह देश का मेमार

आँधियों में भँवर में तूफान में
देश की किश्ती किनारे लग गई
क्योंकि उसके हाथ में थी राष्ट्र की पतवार
सो गया वह देश का मेमार

हिंद - सागर से हिमाचल - शृंग से
नर्मदा से और गंग-तरंग से
उठ रहा बस एक हाहाकार
सो गया वह देश का मेमार

उठ गये बापू, बिलखते हम सभी
आँख के आँसू न सूखे हैं अभी
हाय ! तब तक आ लगा यह असह वज्र-प्रहार
सो गया वह देश का मेमार

उठ गए बापू अँधेरा हो गया
देश का दिनमाण जैसे खो गया
तब कहा किसने—उठो, धीरज धरो
देश में बाकी अभी सरदार
उठ गया वह देश का मेमार
उठ गई जाग्रत् जवानी राष्ट्र की
उठ गई बिजली-रवानी राष्ट्र की
आज सूना देश गुर्जर और बंग-बिहार
उठ गया वह देश का मेमार
कौन धीरज दे हमें बोलो तुम्हीं
लौह-पुरुष रहस्य यह खोलो तुम्हीं
तुम मनुज थे या कि नूतन हिंद के करतार
सो गया वह देश का मेमार

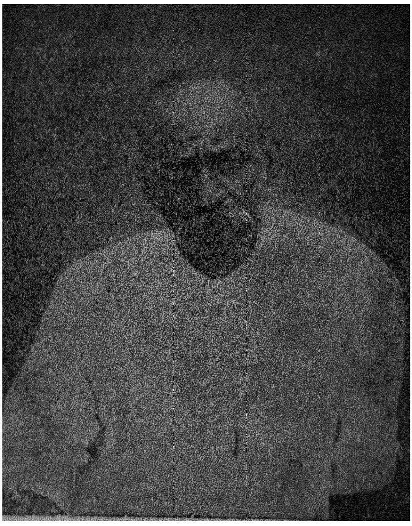

नये पत्ते

नई जिंदगी फूट के रंग लाई
नई जिंदगी देख लो मुसकुराई
कि वन में विपिन में घटा सी गगन में
नई जिंदगी झूमती लहलहाई

रँगे रश्मियों से चमन-अंजुमन को
नई जिंदगी हेरती खोल आँखें
मधुर गुदगुदी-सी वसंती पवन में
नई जिंदगी तैरती खोल पाँखें

कि हर पेड़ के प्राण के तार छूकर
नई जिंदगी बीन सी गुनगुनाई
कि हर डाल पर ताल देती मचलती
नई रागिनी आज देती सुनाई

गया काल के गर्त्त में जो पुरातन
शिशिर का जरा-जीर्ण पतमान जीवन

उड़ा ले गया राख पतझड़, कि चमके
नई जिंदगी के सुनहले अनल-कण

सड़ी ग्रंथियाँ टूट के रंग लाई
नई जिंदगी मुक्ति-सी मुसकुराई

हवा फागुनी कह रही यों धरा से—
"नई जिंदगी लो नया रूप धर लो
नई रोशनी में नहा लो सँवर लो
नई अंजुली में नया अर्घ्य भर लो

"नये रक्त की लालिमा लो जवानी
नई मंजिलों के लिए लो रवानी
नये सत्य की ज्योति को आँकने को—
नया चित्र-पट लो नयी रूपवाणी

"कि हर साल यों ही निखरती चलो तुम
नई जिंदगी से सँवरती चलो तुम
पुरानी बदल के नई बर्त्तिका ले—
अमर दीप-सी एक जलती चलो तुम"।

समस्तीपुर
१०।२।४६

हिंद न्यौछावर जवाहरलाल पर

खेत से खलिहान से धुनि आ रही
तीस कोटि विमुग्ध जनता गा रही
"कब लेब हमरी खबरिया—जवाहर भैया !"

एक ही यह गीत कंठ हजार में
एक ही सुर बज रहा सब तार में
यह प्रभूत प्रभाव राष्ट्र विशाल पर
वृक्ष का विश्वास एक प्रवाल पर
भक्ति बापू को मिली, पर हिंद का—
प्यार न्यौछावर जवाहर लाल पर

यह जवाहर एशिया का नूर है
हिंद-नर-नाहर जगत मशहूर है
किंतु भारत के किसान मजूर का—
यह जवाहर लाल एक मजूर है
प्राण-कलशी कोटि-कोटि मनुष्य की
जिस अमृतमय नाम से भरपूर है

देश का विश्वास कहता—वह सदा—
पास ही है—यदपि दिल्ली दूर है !
राष्ट्र की किस्मत लिखी उस भाल पर !
हिंद न्यौछावर जवाहर लाल पर !!

तिमिर-युग के बाद जब कि सकाल में
भाग्य-कमल खिला स्वदेश-मृणाल में
ज्योति-पुरुष जगा, तमिस्रा टल चली
देश ने की अर्चना भर अंजुली

जागरण का प्रात करुणा-स्नात वह
जग-कलह में एक प्रभु की बात वह
बाल-रवि वह देवता की आरती
वंदना - आराधना की भारती

किंतु अब मध्याह्न पर दिनमान जो
ब्रह्ममय आलोक-पुंज महान जो
कर्म ही जिसका विजय-करवाल है
नाम उसका ही जवाहरलाल है

फूल जो अंगार पर खिलता रहे
मर्द जो दुःख-दर्द पर धुलता रहे

पाप अत्याचार का जो काल है
नाम उसका ही जवाहर लाल है

आज पूँजीभूत भारतवर्ष की—
साधना इस पूर्ण पौरुष-ज्वाल में
देश का अभिमान ऊँचा है खड़ा—
गिरि हिमालय नर जवाहरलाल में

समस्तीपुर
१०|६|१६४८

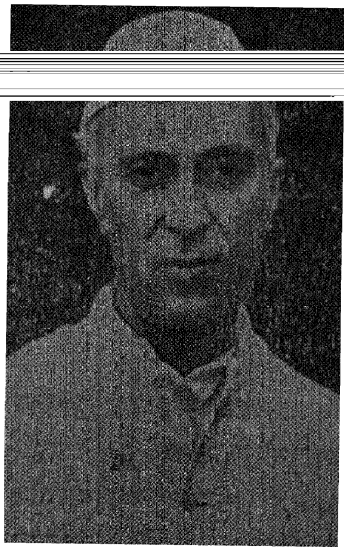

नवीन की कामना

उठो नवीन वर्ष में करो स्वदेश-बंदगी
रचो नवीन नीति-नींव पर नवीन जिंदगी

नई कली खिली नवीन वर्ष की खुली दिवा
नये प्रकर्ष-हर्ष में घुली-मिली खिली विभा
अनंत ज्योति-भूति के असंख्य द्वार खोल के—
बुला रही तुम्हें रहस्य-लोक की दशो दिशा
सुनो पुकारता तुम्हें भविष्य ऊर्ध्व-बाहु हो—
उठो नवीन हर्ष लो नई क्षुधा नई तृषा

रचो नवीन पंथ लीक पीटते चलो नहीं
चलो, दलो त्रिशूल-शूल लक्ष्य से टलो नहीं
नवीन सत्य के लिए नवीन खोज चाहिए
नई दिशा नवीन चाल रोज-रोज चाहिए
नवीन सृष्टि के लिए नवीन बीज-वृष्टि दो
नई समष्टि के लिए बलिष्ट पुष्ट व्यष्टि दो

रचो नवीन लोक शाप हो न जहाँ ताप हो
न रूढ़ियाँ न बेड़ियाँ न पुस्तकी प्रलाप हो
जहाँ कि व्यक्ति-व्यक्ति चंद्र-सूर्य्य-सा चमक उठे
जहाँ कि कंठ-कंठ मंद्र-तूर्य्य-सा ठनक उठे
न हो जहाँ अछूत - छूत भेद - भाव - गंदगी
रचो नवीन नीति-नींव पर नवीन जिंदगी

उठो नवीन वर्ष में स्वतंत्र राष्ट्र - भारती
नई हवा नवीन रश्मियाँ तुम्हें पुकारतीं
स्वतंत्र जन्म भूमि को नवीन शब्द ज्ञान दो
अगीत गीत दो अरूप को स्वरूप-दान दो
नये विचार दो नये विचार को प्रचार दो
नवीन गान दो नवीन गान को सितार दो

नवीन भावना नवीन कल्पना निबंध दो
नवीन काव्य के लिये नवीन छंद-बंध दो
करो समृद्ध भाव-भूमि वर्द्धमान हिंद की
उठो नवीन वर्ष में करो स्वदेश - बंदगी

समस्तीपुर
१।१।४६

नवीन का स्वागत

नवीन कंठ दो कि मैं नवीन गान गा सकूँ
स्वतंत्र देश की नवीन आरती सजा सकूँ

नवीन सृष्टि का नया विधान आज हो रहा
नवीन आसमान में विहान आज हो रहा
खुली दशों दिशा खुले कपाट ज्योति-द्वार के—
विमुक्त राष्ट्र-सूर्य भासमान आज हो रहा
युगांत की व्यथा लिए अतीत आज सो रहा
दिगंत में वसंत का भविष्य बीज बो रहा
सुदीर्घ क्रांति झेल खेल के ज्वलंत आग से—
स्वदेश बल सँजो रहा कड़ी थकान खो रहा

प्रबुद्ध राष्ट्र की नवीन बन्दना सुना सकूँ
नवीन बीन दो कि मैं अगीत गीत गा सकूँ !!

नये समाज के लिये नवीन नींव पड़ चुकी
नये मकान के लिये नवीन ईंट गड़ चुकी
सभी कुटुम्ब एक, कौन पास कौन दूर है
नये समाज का हरेक व्यक्ति एक नूर है

कुलीन जो उसे नहीं गुमान या गरूर है
समर्थ शक्तिपूर्ण जो किसान या मजूर है
भविष्य-द्वार मुक्त है बढ़े चलो चले चलो
मनुष्य बन मनुष्य से गले गले मिले चलो
समान भाव के प्रकाशवान् सूर्य के तले
समान रूप-गंध फूल-फूल से खिले चलो
पुरान पंथ में खड़े विरोध वैर भाव के—
त्रिशूल को दले चलो बबूल को मले चलो
प्रवेश-पर्व है स्वदेश का नवीन वेश में--
मनुष्य बन मनुष्य से गले गले मिले चलो

नवीन भाव दो कि मैं नवीन गान गा सकूँ
नवीन देश की नवीन अर्चना सुना सकूँ !

समस्तीपुर
१०।५।१९४५

नवयुग

खुल रहे धरा के जड़ बंधन
मेरे कोकिल ! इस मुक्ति-पर्व का
करो आज तुम अभिनंदन

सूखे पातों-से उड़े धरा के—
रक्तहीन भंगुर विचार
ईंगुर-सी अरुण नई संस्कृति
शिशु-सी मुसकाई निर्विकार

धर पत्र-पत्र पर ज्योति-चरण
फिरती नवीन भावना-किरण
जगती की शिथिल शिराओं में
कौंधती दामिनी तिमिर हरण
खुल रहे धरा के अंधनयन

पीकर अभाव की आग, तोड़—
संतोष-शांति के बंद द्वार
जन-जीवन का वंचित पलाश-वन—
पहन दीप्त अंगार-हार

कर रहा क्रांति - विद्रोह - वरण
युग से भयभीत शशक मानव
बन रहा दृप्त-मद पंचानन
खुल रहे धरा के जड़ बंधन

बोलो जय क्षुधा-तृषा की जय
नव प्रगति नवीन दिशा की जय
शोषित पीड़ित के हाय-हविष से—
वर्द्धित होम-शिखा की जय
मेरे कोकिल ! इस ज्योति यज्ञ का
गाओ तुम मंगलाचरण

समस्तीपुर
२०।२।४६

निशीथ-चिंतन

अनगिन साँसों के पथ मे अश्लथ,
चरण - चरण धर शोक-हर्ष
ले यौवन का संबल जीवन के—
चले गए चालीस वर्ष

कर रहा आज लेखा-जोखा
अपने सौदे का बनजारा
कितनी पूँजी ले चला
और कितना जीता कितना हारा !!

मैं सोच रहा—मेरे मन के
किस मणि - मानिक की परख हुई
इस भीड़ भरी मंडी की मेरे
किस मोती पर निरख गई

मैं देख रहा सौ-सौ साधों की
मेरी झोली, खुली रही
पर जिसे चाहते प्राण युगों से
वह चिंतामणि मिली नहीं

जीवन के मनसूबे सुमेर
मैं सरसों-सा मजबूर रहा
बरसों चल कर भी मैं अपनी
गंतव्य भूमि से दूर रहा

अब तो ढलते यौवन के दिनमणि का
है घाटी में उतार
राही को जाना दूर किंतु
नजदीक साँझ का अंधकार !

तो क्या सुदीर्घ जीवन के ये
चालीस वर्ष बेकार गए ?
इस पार बिना कुछ किए-दिए
वे जीवन के उस पार गए ?

ओ मानव के कर्मों का, कृतियों का
हिसाब रखने वाले !
जगती के जगमग भाग्य-भानुओं
पर किताब रचने वाले

बस एक पृष्ठ चाहिये मुझे
जिसमें उनका कर दो लेखा
जिन मानव के सुख के सुहाग के
सपनों को मैंने देखा

मेरे पावन संकल्प कि जो मैं अब-तक पूरा कर न सका—
मेरा करुणा क्रन्दन जो इस पृथिवी का पीड़न हर न सका
मेरे मनसूबे जो गौरव के सिंह-शिखर पर चढ़ न सके—
मेरे वे गीत कि जो अगीत तक पहुँच-पहुँच भी कढ़ न सके
ओ भाग्य देवता ! इन असिद्धियों को ही मुझे जुगाने दो
कुछ वर्ष और इन विफल कामनाओं का कोष बढ़ाने दो

समस्तीपुर
२५।१२।५०

गीतोपहार

खोलो प्राणों के बंद द्वार
ओ जगती के कण-कण उदार!
सौंदर्य्य-दान के लिये आज
ऋतुराज रहा तुमको पुकार

हो मुक्त-कंठ कोयल बखेरती
गायन-धन वन-उपवन में
ले खड़ा झूमता है रसाल
मृदु-मंजरियों का कनक-हार

दक्षिण-बयार मधु प्रेम-याचना-सी
वन-पथ में रही डोल
पुलकाकुल लतिका के चुम्बन-सा
चू-चू पड़ता हर सिँगार

कलियों की कलशी में मरंद-मधु—
का गंधासव रहा उमड़
रस-मुग्ध मलिंदों का अमंद
स्वच्छंद साज मदकल गुँजार

[१२६]

किरणों ने दी निखार फूलों ने—
अंगराग चोवा - चंदन
छवि-द्दप्त फाल्गुनी यह सुहागिनी
साज रही सोलह सिँगार

सौंदर्य्य-पर्व है आज प्राण !
उर-उर की प्यास बुझाने को
तुम मंगल-घट बन चलो
प्यार का दो जग को गीतोपहार !

समस्तीपुर
२०।२।५२

धन्यवाद

जग कहता जिनको गीत देव !
वे मेरे तुमको धन्यवाद !!

फूली रसाल की डाली पर
कोयल मदमाती गाती है
वह एक-एक छवि पर वसंत की—
लाख बार बलि जाती है
गुल के मजार पर बुलबुल
चुभते काँटों को दुलराती है
प्रत्येक टीस को दुआ मान
रागिनी टेरती जाती है
चाहे जैसी हो भीख
भिखारी का दाता से क्या विवाद !

जैसा वसंत वैसा पतझड़
कवि का दोनों को धन्यवाद !!
जग कहता जिनको गीत देव !
वे मेरे तुमको धन्यवाद !!

दिन का जगमग प्रकाश रजनी का—
निविड़ विभीषण अंधकार
मैं दोनों में देखता तुम्हारी
कामरूप करुणा उदार

अज्ञात पंथ गंतव्य दूर
राही को चलना निर्विराम
पाथेय किंतु दे रही देव !—
प्रत्येक सुबह प्रत्येक शाम !

प्रत्येक सुबह नव समारंभ
प्रत्येक शाम नव सिद्धि-विंदु
प्रतिदिन क्षण-क्षण के विंदु-विंदु से
जीवन का भर रहा सिंधु !

दो देव नये सुख-दुख अभाव
प्रतिदिन जीवन में नया स्वाद !
जिससे कि दे सकूँ मैं प्रतिदिन
नूतन गीतों में धन्यवाद !!

जग कहता जिनको गीत देव !
वे मेरे तुमको धन्यवाद !!

समस्तीपुर
२३।४।५२

प्रतीक्षा

आज साँझ के उमड़े बादल सजल-श्याम चितचोर
लरज-गरज अविराम रात भर बरस गए घनघोर
सुबह देखता-वांतवृष्टि घन चंपक वर्ण प्रमत-से—
और मेदिनी पूर्णकाम अभिराम सुहाग-विभोर

धुले दाग बुझ गई विकट शोषक निदाघ की आग
नव जीवन से हुए पूर्ण पृथ्वी के प्राण-तड़ाग
अरे आज वृद्धा वसुधा यह लगती है दुलहिन-सी
झड़ता जिसपर अंग राग बन धुल-धुल फूल-पराग !

काया कल्प अकल्पनीय कर गया आज यह कौन !
भू पर नंदन वन उतार कर बिठा गया यह कौन !
शब्द-रूप-रस-गंध तुम्हीं से मिलते हैं मिट्टी को—
विश्वंभर दाता ! परन्तु तुम सदा मौन के मौन !—

किंतु आज यह-झड़ा न केवल वारि-विंदु-आसार
भरा एक नूतन युग का नूतन सुषमा-संसार
वह नवीन चेतना कि जिसकी दीप्ति हरित कोमल-सी
इंच-इंच वल उठी अगुरु सी भू पर धूमाकार

वह नवीन चेतना कि जिसके बीज गर्त में डूबे
मिट्टी के घन अंधकार में युग-युगांत से ऊबे
ज्योति-किरण से निकल आज कर भंग तिमिर की कारा
तोल रहे वे आसमान पर निज उमंग-मनसूबे !

वह नवीन चेतना धो गई कल्मष-कलुष कराल
देखो, वह शीशम-रसाल की धुली हुई है डाल
और रंगिनी वह विहंगिनी पिकी स्वप्न में भींगी—
धुली हुई रागिनी टेरती धुली हुई लय-ताल

चंचु-पंख के संग धुल गई युग-युगांत की पीर
यह कैसी बरसात कि क्षण में बदल गई तकदीर
बंधु पपीहे ! बड़भागी लो पूरी हुई प्रतीक्षा
सफल साधना की जग में बस एक तुम्हीं तसवीर

बंधु ! बता दो मिली तुम्हें यह कहाँ विजयिनी वीन
और शून्य को पिघलाने वाली रागिनी नवीन
कंठ हमें भी मिले, किंतु इनमें वह टेर कहाँ है—
पीर कहाँ वह करे सनम को जो निज प्राणाधीन

कल्प-कल्प से कठिन प्रतीक्षा में हम मनुज विभोर
देख रहे अनिमेष नयन निरुपाय शून्य की ओर
किंतु हमारी मन चाही बरसात नहीं वह आती—
नाच उठे जिसकी रिमझिम से मानस का मन-मोर

जो धो दे अशौच युग-युग के गलित-पलित विश्वास
रच दे समतामयी चेतना का नूतन मधुमास
दैन्य पराभव में खोए जो शक्ति बीज पौरुष के—
अंकुर दे उनमें फिर अंकुर में दे नया विकास

वह बरसात कि धो दे जो भीतर का बहता घाव
कुत्सा-घृणा अहंता का होता जिससे विष-साव
वह बरसात कि जिसके मधु-वर्षण के वशीकरण से
मानव की हो मानव से गलबहियाँ मिटे दुराव

वह ऐसी बरसात मनुज की हाय ! अभी भी बाकी
हम प्यासे ही रहे तुम्हारे मयखाने में साकी—
बंधु पपीहे ! आज तुम्हारी पूरी हुई प्रतीक्षा—
किंतु दूर है अभी मनुज की स्वाती की छवि-झाँकी !!

समस्तीपुर
२२।६।५२

अक्टूबर की दूसरी तारीख

तू न मरी !

वही तरी ज्योति की डूब गई
पर तू न मरी—तू सरी बही ही जाती है
वह रत्न-दीप बुझ गया
किंतु तू दीवट
यह बात सही इस जग से कहती जाती है !

इस काल सिन्धु के उदर-कोष से अनगिन
जो रत्न निकलते वे वापिस जाते हैं
कुछ लहरें उठती हैं आने-जाने में
पर लौट गए जो वे यों छिप जाते हैं

जैसे न कभी भी वे भूतल पर आए
जैसे न कभी भी वे जन-मन पर छाए
यह काल सिंधु वापिस आए मणियों को
मणि-धर-सा रहता प्राणों में लपटाए ।

कुछ रत्न किंतु ऐसे होते वर्चस्वी
युग-वर्ष न जिनकी ज्योति बुझा पाते हैं
मथकर जीवन वे स्वयं गरल पी जाते
पर अपना अमृत यहीं छोड़ जाते हैं—

ओ काल ! न उनकी लीक मिटा पाओगे
वह सदियों के आवरण चीरते जाते
गाँधी जैसे नर-रत्न स्वर्ग भी जाकर
इस जग में ध्रुवतारे-सा दीप जलाते—

समस्तीपुर
२८।६।५२

दीवाली

यह ज्योति - पर्व जलने वालों का मेला !
जल सको प्राण ! तो जलो आज इस वेला !

पृथ्वी पर बलती नहीं चंद्र - नखताली
पृथ्वी पर फलती नहीं ज्योति की डाली
वे अमर बसे जो विभालोक में सुन्दर
हम मर्त्य हमारी मिट्टी काली - काली

उठती न होम की शिखा किन्तु अंबर से
जलती न स्नेह की धार ज्योति बिखराती
वरदान मिला जलने का बस पृथ्वी को—
मिट्टी केवल अपने को आप जलाती

इसलिये न चिंता, सूर्य-चंद्र छिप जाएँ
छाये दिगंत में सघन अमा - अँधियाली
चाहिये सिर्फ कुछ बूँदें बलनेवाली
रच सकती मिट्टी भी राका छविशाली

मिट्टी के लघु - लघु चाँद और नखताली
लघु - लघु दीपों की फुलझड़ियाँ छविशाली
मिट्टी की लौ देखो सनेह - संवर्द्धित—
बन गई अमा में तिमिर - हरण दीवाली

दे सको प्राण ! तो दो सनेह अलबेला !
जल सको प्राण ! तो जलो आज इस वेला !!

समस्तीपुर
६-१०-५२

लखिया की मनौती

कातिक की भींनी रात अभी भी बाकी
सामने शुक्र की विभा - सुन्दरी झाँकी
सुनसान दियारे की कछार - रेती में—
यह कौन खड़ी गंगा-तट पर एकाकी ?

कुछ फूल-पात सिंदूर, धूप-तिल चावल -
वह लिए पुजारिन खड़ी हाथ में लुटिया
पहिचान रहा मैं—यह मेरी बस्ती की
दीनू कहार की माँ अभागिनी लखिया

प्रत्येक वर्ष वह कातिक माघ नहाती
गंगा, माई पर अच्छत फूल चढ़ाती
जाने कैसे वह गंगा की धारा में—
कुछ रो-धोकर दिल को हल्का कर आती

कहते हैं—लखिया के दिन थे सोने के
रातें चाँदी की मस्ती भरी सुहानी—

मशहूर कुली सरदार बाप की बेटी
भरपूर गिरस्ती वाले पति की रानी

जब लखिया आई--लोग बाग कहते हैं—
रोशनी एक जैसे जलती - सी आई
धनपत कहार के घर - आँगन में जैसे
कोयल कूकी, फूली सुहाग - अमराई

धनपत के अपनी थी जमीन दो बीघे
पुरुखों की धरती पुश्त - पुश्त की प्यारी—
धरती वह क्या थी—धनपत के-लखिया के
बेटी-जैसे प्राणों की बड़ी दुलारी—

अपनी खेती के धान और गेहूँ के—
दाने - दाने अनमोल जवाहर - मोती
उगती न फसल जिस साल अवर्षण होता-
धरती से ज्यादा लखिया जलती - रोती !

पर सास मरी जब पास नहीं थे पैसे
लखिया कहार - कुल में परन्तु चधुरानी
कर खेत इजारा श्राद्ध - कर्म में उसने
रुपये - पैसे को बहा दिया ज्यों पानी !

तब दूर ससुर के पास शहर कलकत्ते
धनपत जवान करने हित गया कमाई
पुरुखों की प्रिय धरती वापिस लाने को
धनपत लखिया को रैन - दिवस धुन छाई

तलवार चली जब भाई पर भाई की
वह कलकत्ते में मनुज - मेघ जब छाया
उसने धनपत के साथ हाय लखिया का
अनुराग - बाग सिन्दूर - सुहाग जलाया

खिल पाई बस कुछ ऊपर की पंखड़ियाँ
पर भीतर तह पर तह सुगंध है बाकी
ऐसे असमय तोड़े गुलाब के उर में
जैसे कुछ दिन तक रह जाती छवि - झाँकी

वैसे ही सूखे तन - मन में लखिया के
नारी की सहज मधुरिमा अब भी छाई
वह देखो जल में खड़ी स्वयं पूजा - सी
बस्ती भर के बच्चों की 'लक्खो माई'

मैं देख रहा दो बड़ी-बड़ी आँखों से
बह रही आँसुओं की अविरल खर धारा
इन वेगवती उमड़ी दिल की आहों को
भगवान ! कहाँ कोई है कूल - किनारा !

कर जोड़ किए मुँह पूर्व ओर खोई - सी
चुपचाप पुजारिन खड़ी भक्ति रँगराती
वह सुनो, सुनाती है गंगा माई से
अपने प्राणों की गरज - अरज की पाती

'कुछ नहीं छिपा तुमसे माँ ! अन्तर्यामिनि
ये प्राण न जग के सुख - विलास के कामी
यह भीख तुम्हारी - बेटा बल - संबल है
वर दो कि शांति से रहें स्वर्ग में स्वामी

पर एक भूख प्राणों में एक पिपासा
धुधुआती रहती एक अमिट - अभिलाषा
जो हार गई हूँ एक बार—किस्मत का—
माँ ! पलट न पायेगा क्या फिर वह पाशा

यह खेत हमारा प्रिय आँखों का तारा
युग - युग पुरुखों ने जिसे सुधार - सँवारा
वह धरती कुल की लक्ष्मी हाय ! हमारी
हो गई पराई जब से हुआ इजारा

क्या यत्न न मैंने किये उसे लाने को
वह अपना खोया चिंतामणि पाने को
बरसों तक दासी बनी महाजन के घर
उस पत्थर को करुणा से पिघलाने को

पर हाय ! वधिक के हाथ पड़ी सोने की—
चिड़िया क्या कहीं भला होती खोने की !
सच कहती हूँ—इस दुनिया के मानव को
परवाह नहीं कुछ मानव के रोने की

जब नई फसल मेरी धरती से कटके—
भर देती गेहूँ से ठाकुर के मटके
मुझको लगता—ये नहीं अन्न के दाने
ये विन्दु - विन्दु हैं खून हमारे टटके

मेरे बेटे का भाग बपौती प्यारी
है कौन दूसरा इस निधि का अधिकारी ?
क्या नहीं राम की धरती की सीता को—
हरनेवाला है रावण अत्याचारी ?

माँ ! करुणामयि माँ ! मेरी यही मनौती
सुन लो तुमको मेरी यह आज चुनौती
लौटानी होगी दुख विनाशिनी ! तुमको—
मेरे बेटे की धरती अमिट बपौती—

जब अपना होगा खेत नये गेहूँ के
दूँगी तुमको पीठा पकवान मिठाई"
इतना कहते - कहते लखिया के मुँह पर
जाने कैसे कुछ मुस्काहट सी आई

तब तक उदयाचल के कनकाभ शिखर पर
नूतन प्रभात जागा लेता अँगड़ाई !

समस्तीपुर
११-१०-५२

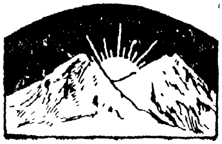

दृष्टिकोण

तुम बहुत बड़े हो चाँद ! मुग्ध तुम पर भूमंडल सारा
चाहिए किंतु मेरे दृग को कोई नन्हा - सा तारा

तुम रजनी के राजा शोभा से टलमल छैल - छबीले
अमृत का गागर लिए - पिए तुम नागर नवल फबीले

अचरज क्या-कुमुद्वती - आँखें इस पृथ्वी की रँगरातीं
तुमको निहारती रात-रात भर अथक खुली रह जातीं

इतनी ममता इतने सनेह में तुम पलते - फलते हो
यह बिलकुल झूठ कि तुम पृथ्वी के हित बलते-जलते हो

सामर्थ्यवान तुमको कलंक भी दोष नहीं होने को
कितना भी बढ़ो परन्तु तुम्हें संतोष नहीं होने को

पर हद होती प्रभुता की भी--तुम कहाँ सँभल पाते हो
जैसे तुम बढ़ते रोज - रोज वैसे घटते जाते हो !

क्यों एक तुम्हीं को मिली विश्व की सारी वंदन-पूजा ?
यह इसीलिए न कि आसमान में चाँद नहीं है दूजा ?

तुम अति-पूजित हो चाँद !-उपेक्षित युग-युग से बेचारे-
अधिकारी मेरे पूजने के ये छोटे - छोटे तारे

ये कोटि-कोटि लघु-लघु दीपों-से किंचित् विभा पसारे
जल रहे स्नेह से रिक्त सिर्फ बाती समान ये तारे

निस्संग निस्व जलने वालों की ऐसी रीति निराली
जितना बढ़ता है तम उतनी बढ़ती इनकी उजियाली

ओ चाँद ! न जब तुम होते—होती काली-काली रातें
अब अंधकार के गुहा-गर्भ में अग-जग सब खो जाते

तब एक अमर विश्वास सदृश कहती तारों की झाँकी
'तुम दुखी न हो धरती, देखो अब भी प्रकाश है बाकी'

तुम बहुत बड़े हो चाँद ! और छोटे - छोटे ये तारे
पर इतना सत्य कि अंधकार से ये न कभी भी हारे

समस्तीपुर
२०-११-५२

स्वप्न-स्रष्टा

जिसके कमल खिले मेघों में और गुलाब गगन में
उस अनूप आकाश - कुसुम के माली के वंदन में—
लिख लेखिनी ! शब्द श्रद्धा के—उसे जगत के ज्ञानी
समझ कभी पा सके न, उसकी बड़ी अजीब कहानी !

एकाकी निस्संग विभव-गौरव के एक किनारे
जागरूक वह संगी उसके सूरज चाँद-सितारे
जहाँ अंत है विदित-प्राप्त का और न पथ है आगे
जहाँ खो चुके कितने ही उसके-से मनुज अभागे !

उसी प्राप्य अज्ञात देश के तिमिरांचल में डूबा
वह भावी की ओर चला है वर्त्तमान से ऊबा
अरे क्षितिज को छूनेवाला पथिक ! न रुकना-झुकना
जय हो तेरी जयति-जयति तेरा नूरानी सपना !

हो सकता आमरण तुझे अभिशप्त सदृश हो जीना
हो सकता रे अमृत - पुत्र ! ही तुझे गरल ही पीना
किंतु कमल - पाटल तेरे मेघों में खिलने वाले
नहीं मर्त्य के अभिशापों से वे टुक हिलने वाले

और एक दिन स्वर्ग-सुरभि की भूखी पृथ्वी लोनी
जब कि लिए मृदु पलक पल्लवों में यांचा की दोनी—
माँगेगी नूतन सुमनों की नूतन केसर क्यारी
उस दिन ओ आकाश कुसुम का माली! तेरी बारी
क्योंकि बात यह सत्य कि जो छवि मिट्टी में बिखरी है
ध्रुव वह किसी स्वप्न-धन के मानस-नभ से उतरी है!

समस्तीपुर
२२-१०-५३

गीत

भला क्या करेगी अमा जब तलक
एक भी दीप जलता रहेगा तुम्हारा !

कि जब तक सनेही हिया सो रहा है
कि जबतक बिना लौ दिया रो रहा है
कि जबतक न जलता हुआ एक शोला
जिगर से लगाने का जी हो रहा है

तभी तक अँधेरा कि कण-कण धरा का
न जबतक बनेगा चमकता सितारा
भला क्या करेगी अमा जब तलक
एक भी दीप चलता रहेगा तुम्हारा !

चलो ढालते स्नेह धारा न चूके
निखिल विश्व - घट पूर्ण हों, हों न भूखे,
चलो बालते लौ लगन की उरों में--
पुरों में कहीं स्नेह बाती न सूखे

फकत चाहिये स्नेह की बूँद फिर तो
उगे प्रेम की पूर्णिमा चंद्रहारा
भला क्या करेगी अमा जब तलक
एक भी दीप जलता रहेगा तुम्हारा !!

समस्तीपुर
२८-१०-५३

—पद—

मेरे प्राणों के आँगन में प्रिय, एक दीप भी बल न सका!

इसलिए कि मुझमें सिमट गई है
उन भवनों की आकुलता
जिनका युग - युग का अंधकार

वर्षों के झूठे हर्षों के छूँछे दीपों से टल न सका!

इसलिए कि मुझमें लिपट गई है
उन नयनों की आतुरता
जिनकी चितवन का दीप सजल

धुँधुआ-धुँधुआ कर किसी निठुर के स्नेह परस विन जल न सका!

इसलिए कि मुझमें समा गई है
उस मानव की विह्वलता
जिसके अभाव के कंधों पर—
यह हर्ष वर्ष-त्यौहार भार बन, दुर्वह क्षण भर चल न सका!

समस्तीपुर
२६-१०-५३

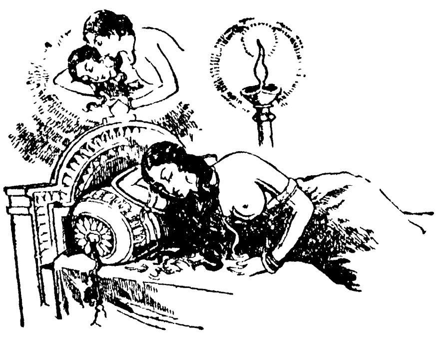

जिंदगी की ओर से

ओ संसृति-शरण मरण ! तुमको सौ बार जिंदगी का सलाम !

विश्राम शांति की गोद श्याम—
संध्या समान तुम हे उदार !
झंझा - झकोर से व्यस्त - त्रस्त
नौका को तुम तट की पुकार
ज्यों बँधा चतुर्दिक दीवारों से
स्वस्थ अनाविल कूप - नीर
त्यों ही तुमसे बँधकर जीवन यह
मर्य्यादित सीमित गभीर
तुम थके हुए राही की अन्तिम
मन चाही मंजिल ललाम

ओ संसृति-शरण मरण ! तुमको सौ बार जिंदगी का सलाम !

तुम हो कि मर्त्य का एक-एक क्षण
इतना मोहक मूल्यवान
तुम हो कि विश्व इतना सुंदर
इतना सुंदर संध्या - विहान !

होता अनंत स्थितिमान सतत - वाही
यदि जीवन का सोता
क्या जाने अपनी किस्मत पर यह
यात्री हँसता या रोता
पर एक बात है सत्य कि जीवन
सब की आँखों का तारा
इसलिए कि वह इस धरा-धाम पर
दो दिन का पाहुन प्यारा
रहने दो मोह-छोह बाकी
प्रिय का बिछोह दुख सहने दो
जिंदगी न जो कह सकी
बची वह कथा मरण को कहने दो
ओ मरण-सिंधु ! तुममें प्रवेश कर
बिन्दु - बिन्दु यह पूर्णकाम

जीवन की शरण-मरण! तुमको सौ बार जिंदगी का सलाम !

समस्तीपुर
६-११-५३
दीपावली की तिथि

गीत से बढ़कर न बुलबुल ! और कोई काज

गा सुना जो पाटलों में है छिपी आवाज
गीत से बढ़कर न बुल-बुल ! और कोई काज

गीत जो कुत्सा-घृणा पर प्रेम की पुचकार
गीत जो दुर्गंध पर मकरंद की बौछार
बीज जो सौंदर्य्य के सोए धरा में मौन
गीत जो उनको जगा दे बन वसंत-पुकार

गा सुना जो बंद कलियों में किरण का राज
गीत से बढ़कर न बुल-बुल ! और कोई काज

भीति की छाया सदृश जो उड़ रहा शहबाज
प्रीति की बुलबुल ! न वह तू सृष्टि की सिरताज
जय न उसकी लिख रहा जो खून से इतिहास
जय उसीकी लिख रहा जो फूल से मधुमास
बाज वह उसके लिए यह सृष्टि केवल ग्रास
गाज वह सौन्दर्य्य पर वह एक सत्यानाश

वह मरण—चिर-यौवना तू जिंदगी का साज
गीत से बढ़कर न बुलबुल ! और कोई काज

गा कि हो सरसब्ज मधु-सिंचित मरण का दूह
गा कि जीवन-पीर निकले व्याधियों का व्यूह
गा सुना उन बेकसों को पाटलों की बात
छिल रहा कुश-कंटकों से सतत जिनका गात
गीत की बुलबुल अरी ! जब स्वर्ग की तसबीर
उतरती समवेदना के नयन में बन नीर
ज्योति वह जिससे हुई यह जिंदगी रंगीन
ज्योति वह जो देवता-सी मर्त्य में आसीन
गा अरी ! करुणा-दया की ज्योति का यश गान
कल्प से जिसके लिए भूखा बहुत इंसान
शब्द में जब उतरती है दर्द की तसबीर
मधुर सुर बजता तभी यह गीत का मंजीर

शब्द को सौन्दर्य्य को बस एक तुम पर नाज
गीत से बढ़कर न बुलबुल ! और कोई काज

गीत

अकेला चाँद तू ही क्या ! किसीका चाँद हूँ मैं भी
सुधाकर एक तू ही क्या ! सुधा का स्वाद हूँ मैं भी

गगन की नीलिमा में फूलती है चाँदनी तेरी
किसी के नयन में अभिमानिनी छवि झूलती मेरी
जलन उतनी नहीं तेरे लिए प्रेमी चकोरों में
जलन जितनी किसी के प्राण के रीते कटोरों में

किसी की प्रीति-पूनो में सुखी आबाद हूँ मैं भी
अकेला चाँद तूही क्या किसी का चाँद हूँ मैं भी !

मुझे भी ज्ञात है वह कसक जब सुनसान रातों में
प्रतीक्षा में किसी की नींद आती है न आँखों में
मुझे भी ज्ञात वे घड़ियाँ अमा की दुख भरी तेरी
किसी से दूर जब मजबूर होती है व्यथा मेरी

किसी बेपीर की अनरीति से बरबाद हूँ मैं भी
अकेला चाँद तू ही क्या किसी का चाँद हूँ मैं भी

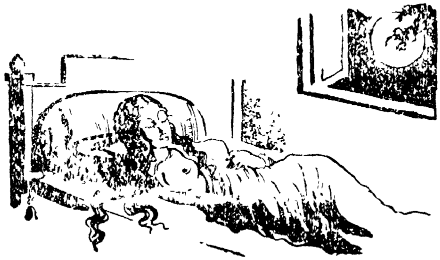

गीत का मौसम

खुले पंख मेघों के श्यामल श्वेत सलोने
चले उमड़ते दल के दल सुखमा के छौने
शंख नाद में कभी, कभी वंशी की ध्वनि में
उठी गीत की लहर विश्व के कोने - कोने

लो आ गया गीत का मौसम गगन! तुम्हारा
फूटेगी अब प्राणों की चंचल स्वर - धारा
शिखर-शिखर से बिखर बहेंगे शत-शत निर्झर—
निखर - निखर जायेगा जग का कूल-किनारा

रिमझिम-रिमझिम बरसेंगे मोती छविशाली!
जिनके बिना सुहाग माँग पृथ्वी की खाली
कल-कल नद-नदियों में मर्मर वन-बागों में
दिग-दिगंत में बरसेगी मंजुल हरियाली

ओ गायक-सम्राट ! विश्व यह एक वीन-सा
आज तुम्हारे तरल - परस - पुलकित अधीन-सा
चाहे भर दो राग आग का या सुहाग का
या भर दो कोई विहाग इसमें नवीन सा

आज गान-महिमा-मंडित तुम जन-मन रंजन
आज नहीं तुम शून्य सुप्त निर्लिप्त निरंजन
प्राण-प्र ाण के तुम समीप हो गए अचानक—
आँख-आँख के बने आज तुम शीतल अंजन

यह प्राणों में उमड़ - घुमड़ कैसे घिर आई
किस रस में भीनी साँसों की यह पुरवाई
बोलो ओ निस्संग ! तुम्हारी शिरा - शिरा में—
यह रागिनी उमंग भरी कैसे लहराई

नक्षत्रों के विभालोक ! तुम ज्योति उजागर
रविशशि उडुगणमणिजिसमें वैसे तुम सागर
किंतु पीर की अमरवेलि जिसके कण-कण में
यह मिट्टी ही गढ़ सकती गीतों का गागर

इसीलिए जब पीर धरा की तुमने पी ली
समवेदन में हुई तुम्हारी आँखें गीली
उठी गीत की लहर तुम्हारे अंतस्तल से—
उगी इंद्रधनु की सतरंगी छटा छबीली

गरजो बरसो गगन ! आज विश्वंभर हो लो
पीकर गरल धरा का तुम शिव-शंकर हो लो !
आशुतोष ! गंगा की धारा मुक्त करो हे !
घटाटोप निज जटाजूट का बंधन खोलो !

नाचो ओ नटराज ! तड़ित के चपल चरण से
बाँधो जग को इंद्रधनुष के वशीकरण से
सफल गीत का मौसम होगा तभी तुम्हारा—
धुल जाए जब कलुष-कीच काई जन-मन से !

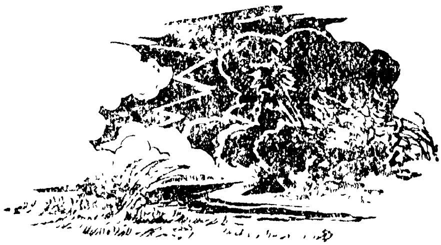

आज सातवीं वर्ष-गाँठ है स्वतंत्रता की !

आज सातवीं वर्ष-गाँठ है स्वतंत्रता की !

आज चाहिए खुशियों के नगमे मस्ताने
आज चाहिए सुख - सुहाग के गीत तराने
किंतु क्षमा हो बंधु ! विवश हूँ मैं कहने को
इस अवसर पर कथा व्यथा की दुख-विपदा की
आज सातवीं वर्ष-गाँठ है स्वतंत्रता की !

कहूँ कि क्यों दिल में उमड़ी इतनी नाराजी ?
कहूँ कि क्यों भाती न आज मस्ती-शीराजी ?
इस कारण ओ बंधु ! कि इस अवसर पर उर में
याद पुराने सपनों की हो जाती ताजी

सपने, जिनकी प्राप्ति हेतु फाँसी के तख्ते—
सुख - सुहाग जीवन - यौवन लगते थे सस्ते
सपने, जिनके लिए चले थे गाँव - गाँव से
मर मिटने को वीरों के दस्ते पर दस्ते

कितनों का घरबार और परिवार खो गया
कितनों का संसार अरे मिस्मार हो गया
कौन कहे यह बात बड़ी पुरदर्द कहानी
सानी नहीं कि जैसी हमने की कुर्बानी !

क्षमा करो देवी स्वतंत्रते ! तू फिर आई
तू आई कि सिर्फ तेरी मोहक परछाईं !
हमने वंदन किया और अभिनंदन तेरा
हमने समझा हुआ मुक्ति का स्वर्ण सबेरा
अब अभाव दुख - दैन्य पराभव के दिन बीते—
हमने समझा अब न रहेगा कहीं अँधेरा

किंतु मुक्ति की होम-शिखे ! ओ चिर मधुगंधी
कहीं नहीं तू रही दीख—क्या फिर तू वंदी?
आज सातवीं वर्ष - गाँठ तेरी यह आई
किंतु न तेरा तेज कहीं देता दिखलाई

कल्पलता तू निखिल देश की जन - मन - रंजन
तू न अरी श्रीमंतों के चूल्हे का ईंधन
कोटि- कोटि जन मन का तू रवि - शशि ध्रुवतारा
तू न एक की, तू अनेक की ज्योति उदारा !
देवि ! न तू कांचनी किसी की है विलासिनी
तू दुर्गा दुख - दैन्य - पराभव - असुर - नाशिनी

इति जब होगी जनता के दुख-दैन्य व्यथा की
सच्ची वर्ष - गाँठ होगी तब स्वतंत्रता की

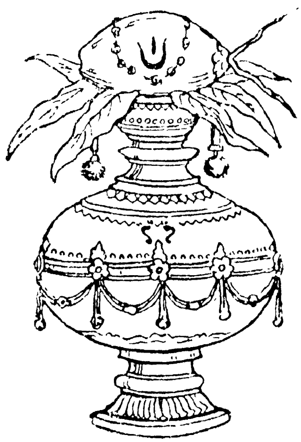

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	३	सधन	सघन
६	२	म्हारी	तुम्हारी
८	३	कर	करो
६	२३	क	का
१३	४	का	की
२३	३	चित्र-कलश	चित्रकलश
२५	३	का	की
३३	१६	कहाँ-कहाँ	कौन यहाँ
३६	३	प्रायश्चित	प्रायश्चित्त
३६	७	दारुणखंडन	दारुण खंडन
४१	१०	शस्यशालिनि	शस्यशालिनी
४५	३	मुक्ति	मुक्त
५४	१२	वनबेरगाँव	वनबेर गाँव
६४	१३	एक	एक भी
६६	७	जीवन ने, अमर अभाव	जीवन ने अमर अभाव,
७३	७	हृद	हिंद
७४	६	तुम्हारे तट अजय वट आया।	तुम्हारे घर धन्वंतरि आया।
८०	१८	फुट	फूट
८७	१४	नव	नवल
८१	६	विकृत	विवृत
६८	११	नवी	नये
६६	८	कर्म-न्याय	कर्म-न्यास
१०२	२	परि-वेदना	परिदेवना

१०७	१२	शिशुओ	शिशुओ ।
१०८	६	भैया	मैया
११२	१४	है	हैं
११५	८	र	भर
१३२	३	प्रमत	प्रमन
१३४	६	विष-साव	विष-स्राव
१३६	२	शुक्र	शुक्र
१४५	८	अब	जब
१४७	१४	ही	हो
१५४	४	जीवन-पीर	जीवन चीर
१५५	१२	होती	रोती
१५६	६	अव	अब
१५७	१८	समवेदन	संवेदन